SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक १०

अक्तूबर १९९९

मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

भिलाई का केवल इस्पात आकर्षित नहीं करता ग्राहकों को
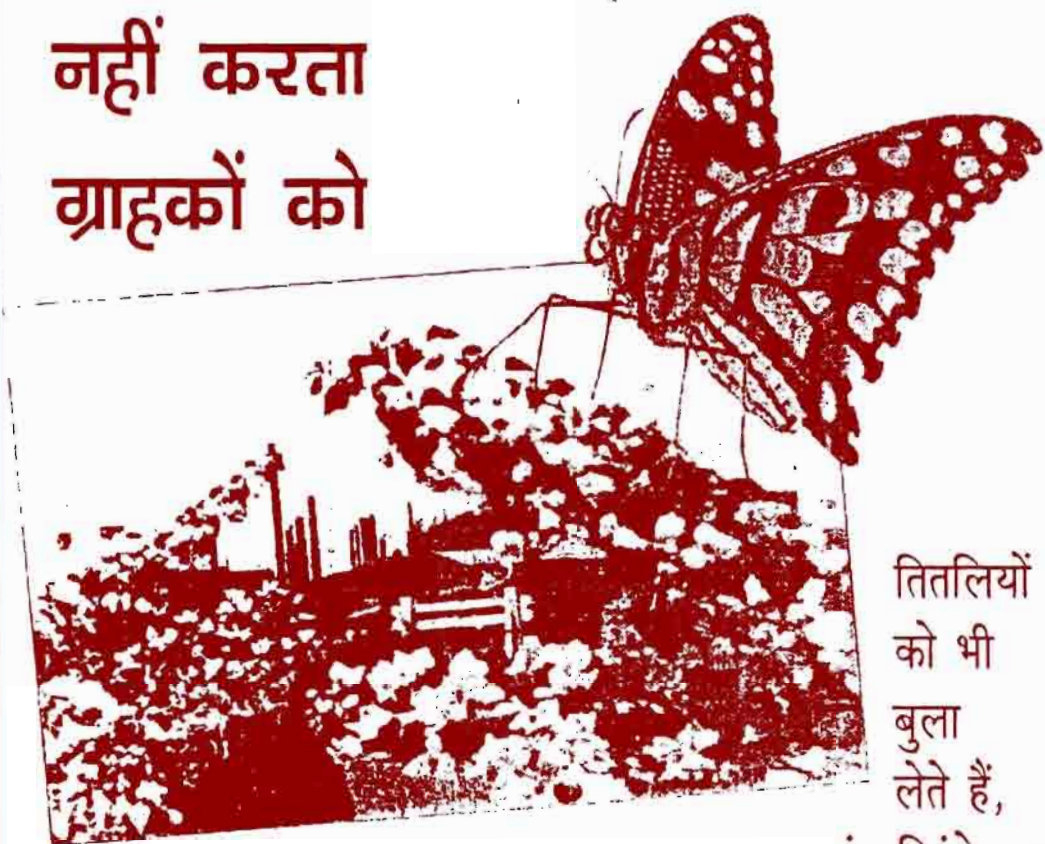
तितलियों को भी बुला लेते हैं, रंग-बिरंगे फूल!

प्रतिवर्ष भिलाई बिरादरी संयंत्र, खनि-नगरों और इस्पात नगरी में एक लाख पचास हजार से अधिक पौधे लगाती है । संयंत्र के भीतर अनेक उद्यान भी विकसित किये गये हैं । प्रबुद्ध एवं संवेदनशील प्रबंधन ने पर्यावरण को उच्च प्राथमिकता पर रखा है, शायद इसीलिए बहुत से भ्रमणार्थी सोच में पड़ जाते हैं कि संयंत्र में उद्यान है या उद्यानों में संयंत्र?

हर किसी की जिंदगी से जुड़ा हुआ है सेल

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक १० | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(सातवीं तालिका)

३३४. श्री रामगोपाल माहेश्वरी, रामदास पेठ, नागपुर (महा.)
३३५. श्री बब्बन प्रसाद मिश्र, नवभारत प्रेस, रायपुर (म.प्र.)
३३६. श्री मनोज सेलट, एलोरा पार्क, बड़ौदा (गुजरात)
३३७. श्रीमती निर्मला अग्रवाल, जी. ई. रोड, रायपुर (म.प्र.)
३३८. श्री राजूभाई जोशी, आदिपुर, कच्छ (गुजरात)
३३९. श्री प्रसन्न कुमार शुक्ला, डोंगरगढ़ (म.प्र.)
३४०. श्री बी. बी. पण्डा, इंजीनियरिंग कॉलेज, शेगाँव (महा.)
३४१. श्री हर्षवर्धन चोपड़ा, साकेत नगर, इन्दौर (म.प्र.)
३४२. श्री आशीष पाण्डेय, मयूर विहार, दिल्ली
३४३. श्री अशोक शर्मा, बड़ा सराफा, इन्दौर (म.प्र.)
३४४. श्री अविनाश रणवीर दिघे, स्नेहलता गंज, इन्दौर (म.प्र.)
३४५. श्री पी. एस. वर्मा, छुईखदान, राजनांदगाँव (म.प्र.)
३४६. डॉ. देवाशीष दे, बेमेतरा, दुर्ग (म.प्र.)
३४७. श्री हरिशंकर गारोडिया, राँची (बिहार)
३४८. श्री प्रभाशंकर पी. सिंह, वशी, नवी मुम्बई (महा.)
३४९. डॉ. हरेश शाह, गणदेवी, नवसारी (गुजरात)
३५०. डॉ. मृदुला शुक्ला, बलौदा बाजार, रायपुर (म.प्र.)
३५१. श्रीमती गौरी भट्टाचार्य, मुख्तियार गंज, सतना (म.प्र.)
३५२. श्री बंशीलाल मुरारीलाल लढ़ा, मल्हारगंज, इन्दौर (म.प्र.)
३५३. श्री विश्वमूर्ति अग्रवाल, सत्ती बाजार, रायपुर (म.प्र.)
३५४. श्री प्रेमनाथ सिंह, पीली कोठी, रीवा (म.प्र.)
३५५. श्री एन. एस. त्रिवेदी, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
३५६. श्री पी. एन. मायेस्कर, चौबे कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
३५७. श्री शिव नारायण टावरी, जलविहार कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
३५८. श्री आर. पी. शर्मा, बाल्को, अमरकण्टक, शहडोल (म.प्र.)
३५९. डॉ. वल्लभ भाई हरि भाई धडुक, जूनागढ़ (गुजरात)
३६०. श्री नरेन्द्र कुमार सक्सेना, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
३६१. श्री के. के. चतुर्वेदी, संजीवनी नगर, जबलपुर (म.प्र.)
३६२. स्वामी रामकृष्ण पुरी, डेगवा, सिंधु दुर्ग (महा.)
३६३. श्री हनुमान दास भट्टड़, बेनाचिटी, दुर्गापुर (प.बंगाल)
३६४. श्री अनिल कुमार भट्टाचार्य, सोदपुर, उत्तरी चौबीस परगना (प.बंगाल)
३६५. श्री परमानन्द पटेल, सहकार नगर, रामपुर, जबलपुर (म.प्र.)
३६६. श्री हरीश चन्दर चितकारा, पीतमपुरा, दिल्ली

Ramakrishna Mission
R. K. Mission Road, Laitumkhrah,
SHILLONG - 793 003

शिलांग में क्विन्टन रोड पर 'विवेकानन्द सांस्कृतिक केन्द्र' के निर्माण के लिए दान हेतु अपील

मेघालय प्रदेश की राजधानी शिलांग सुरम्य पहाड़ियों में स्थित एक सुन्दर नगर है। १९०१ ई. के अप्रैल में स्वामी विवेकानन्द यहाँ पधारे थे और लगभग दो सप्ताह निवास किया था। अपने शिलांग-प्रवास के दौरान उन्होंने यहाँ जेल रोड तथा क्विंटन रोड के मिलन-बिन्दु पर निर्मित 'क्विंटन मेमोरियल हॉल' का उद्घाटन किया था। उस हॉल में उन्होंने 'भारतीय संस्कृति' विषय पर एक भाषण भी दिया था। उस सभा में अंचल के सभी गण्यमान्य नागरिक उपस्थित थे, जिनमें आसाम के तत्कालीन मुख्य कमीश्नर सर हेनरी काटन भी थे। वे तब तक स्वामीजी के उत्साही प्रशंसक बन चुके थे। इस प्रकार यह स्थान स्वामी विवेकानन्द के पावन-स्मृतियों के साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध है और उनके भक्तों तथा प्रशंसकों के लिए एक तीर्थस्थल बन गया है।

१९९३ ई. में क्विंटन मेमोरियल हॉल के ट्रस्टियों ने इसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति रामकृष्ण मिशन को सौंप दी। अब यह 'विवेकानन्द सांस्कृतिक केन्द्र' के नाम से जाना जाता है। यहाँ सार्वजनिक पुस्तकालय, चिकित्सालय आदि कुछ सेवाकार्य संचालित हो रहे हैं। इस भवन के अत्यन्त जीर्ण अवस्था में होने के कारण यहाँ किसी भी प्रकार का स्थायी सेवाकार्य चलाना सम्भव नहीं है। अतः इसके जीर्णोद्धार के लिए योजना बनाई गई है। इसे स्वामी विवेकानन्द का भव्य स्मारक-भवन बनाने की योजना है, जो सभी श्रेणी के लोगों और विशेषकर युवावर्ग को प्रेरणा प्रदान कर सकें।

सुयोग्य वास्तुविदों तथा अभियंताओं द्वारा स्मारक-भवन का विस्तृत नक्शा बनाया गया है। आधारशिला-प्रतिष्ठा समारोह तथा भूमि-पूजन का कार्य रामनवमी के पावन अवसर पर २५ मार्च १९९९ को सम्पन्न हुआ। तब से निर्माण कार्य द्रुत गति से जारी है। प्रस्तावित दुमंजिला इमारत में निम्नलिखित सेवा-कार्यों के लिए भवन बनाने की योजना है – (१) महाविद्यालय के छात्रों के लिए एक सुसज्जित पुस्तकालय। (२) विद्यार्थियों के लिए कोचिंग कक्षाएँ। (३) युवा परामर्श-केन्द्र। (४) विद्यार्थियों के लिए छात्रावास (५) उत्तर-पूर्वी भाषाओं का एक विद्यालय। (६) एक सभागार (लगभग ३०० लोगों के लिए)। (७) एक चिकित्सालय।

इस निर्माण-कार्य की अनुमानित लागत लगभग ७०,००,०००/- (सत्तर लाख) रुपये है। स्पष्ट है कि मिशन के मित्रों, भक्तों तथा शुभचिन्तकों के सक्रिय सहयोग के बिना यह विशाल राशि एकत्रित नहीं की जा सकती। उदार दाताओं से हम विनम्र निवेदन करते हैं कि आप इस पुनीत कार्य में अपना बहुमूल्य योगदान करें। रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान आई.टी.ऐक्ट के धारा ८०जी के तहत आयकर से मुक्त है। न्यूनतम दानराशि भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करके प्राप्ति की रसीद दी जायेगी। कृपया चेक/डी.डी. 'रामकृष्ण मिशन, शिलांग' के नाम से प्रेषित करें।

धन्यवादपूर्वक

प्रभु की सेवा में

स्वामी योगात्मानन्द

सचिव

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ३७ **अक्तूबर, १९९९** अंक १०

स्वाभिमान-रक्षा

गङ्गातरंग- कणशीकर- शीतलानि
विद्याधराध्युषित चारुशिलातलानि।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः।

अर्थ – क्या हिमालय में गंगा की तरंगों के कण तथा फुहारों से शीतल और विद्याधरों के प्रिय निवास रूप सुन्दर शिलापट जैसे रमणीय स्थान नष्ट हो गये हैं, जो लोग अपमान सहते हुए भी दूसरों के टुकड़ों में आसक्त हैं?

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालिं कपालिं
ह्यादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठे।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणैः सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः।

अर्थ – स्वाभिमानी व्यक्ति भूख से पीड़ित होने पर पेट रूपी गड्ढे को भरने के लिए दिन-पर-दिन सफेद वस्त्र के टुकड़े से किनारे तक ढँके हुए भिक्षापात्र लेकर, शास्त्रों में पारंगत ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न किये गये यज्ञाग्नि के धुँए से काले हुए यज्ञस्थल के निकट स्थित पवित्र विशाल गाँव में या वन में द्वार द्वार पर जाकर प्राणों की रक्षा करना उत्तम समझता है, परन्तु समान कुल में उत्पन्न सम्बन्धियों के बीच दीन-भाव से जाना उचित नहीं समझता ।

— भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, २४, २३

मातृ-वन्दना

– १ –

(केदार-रूपक)

अब तो दरस दे दो मात।
खेल जग में थक चुका हूँ, और कछु न सुहात ॥ अब तो.॥

शुष्क मरु के भ्रम-जलधि में, जिन्दगी की लघु अवधि में,
काम-कांचन मोह कारण, जनम निष्फल जात ॥ अब तो.॥

मूढ़ता अज्ञान मन में, ले भटकता भ्रमित वन में,
विषय पंचक विषम वंचक, सतत बैठे घात ॥ अब तो.॥

आयी हो तुम दुःख हरने, ज्ञान-दे आलोक करने,
मेरे जीवन में घिरी है, घन अँधेरी रात ॥ अब तो.॥

– २ –

(केदार-रूपक)

जननी, अब तो पार लगा दे।
जनम जनम से भटक रहा हूँ, अब तो राह बता दे ॥

बिसराकर पदकमल तुम्हारे, डूबा था विषयों में सारे;
साँझ भयी अब घर आया हूँ, ना मुझको लौटा दे ॥

भक्ति विराग नहीं कछु मेरे, लोभ-मोह सब दोष घनेरे;
तेरी करुणा ही सम्बल है, भव-भय दूर हटा दे ॥

मैं अबोध असहाय अकिंचन, तो भी तू करती है वंचन;
अब तो भ्रम अज्ञान मिटाकर, निज मधुरूप दिखा दे ॥

– विदेह

अग्नि-मंत्र

(श्रीमती ओली बुल को लिखित)

१७ जनवरी, १९००

प्रिय धीरामाता,

सारदानन्द के लिए प्रेषित कागजातों के साथ आपका पत्र मिला; उसमें कुछ सुसंवाद भी है । इस सप्ताह में और भी कुछ सुसंवाद पाने की आशा में हूँ । आपने मेरी राय के सम्बन्ध में कुछ भी तो नहीं लिखा है । कुमारी ग्रीन्सस्टिडल ने मुझे एक पत्र लिखकर आपके प्रति अपनी गम्भीर कृतज्ञता प्रकट की है – ऐसा कौन है जो आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट किये बिना रह सकता है? आशा है कि आजकल तुरीयानन्द भलीभाँति कार्य में संलग्न होगा ।

सारदानन्द को दो हजार रुपये भेजने में समर्थ हो चुका हूँ । इसमें कुमारी मैक्लाउड तथा श्रीमती लेगेट सहायक सिद्ध हुई; अधिकांश उन्हीं के द्वारा दिया गया है, शेषांश व्याख्यान से प्राप्त हुआ । यहाँ पर या अन्यत्र कहीं वक्तृता के द्वारा विशेष कुछ होने की मुझे कोई आशा नहीं है । उससे मेरा व्यय-निर्वाह भी नहीं होता । केवल इतना ही नहीं, पैसा देने के भय से कोई भी दिखायी नहीं देता । इस देश में वक्तृता के क्षेत्र का उपयोग विशेष रूप से किया गया है, और लोगों में भाषण सुनने की भावना समाप्त हो चुकी है ।

नि:सन्देह मेरा स्वास्थ्य अच्छा है । चिकित्सक की राय में मैं कहीं भी जाने के लिए स्वच्छन्द हूँ; निदान चलता रहेगा और मैं कुछ ही महीनों में पूर्णतया स्वस्थ हो जाऊँगा । वे इस बात पर दृढ़ है कि मैं ठीक चुका हूँ; शेष कमियाँ प्रकृत्या पूरी हो जायेंगी । खासकर स्वास्थ्य सुधारने के लिए ही मैं यहाँ पर आया था, और उसका सुफल मुझे प्राप्त हुआ है । साथ साथ दो हजार रुपये भी मिले, जिससे कानूनी कार्यवाहियों का खर्च भी सँभल गया । अब मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वक्तृता-मंच पर खड़े होने का मेरा कार्य समाप्त हो चुका है; उस प्रकार के कार्यों द्वारा अपना स्वास्थ्य बरबाद करना अब मेरे लिए आवश्यक नहीं है ।

अब मुझे यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि मठ-सम्बन्धी सारी चिन्ताओं से मुझे अपने को मुक्त करना होगा और कुछ समय के लिए माँ के पास जाना होगा । मेरी वजह से उन्होंने बहुत कष्ट उठाया । उनके अन्तिम दिन को व्यवधानरहित बनाने के लिए मुझे प्रयत्न करना चाहिए । क्या आप जानती हैं कि महान शंकराचार्य को भी ठीक ऐसा ही करना पड़ा था? माँ के कुछ अन्तिम दिनों में उन्हें भी अपनी माँ के

पास लौटना पड़ा था । मैं इसको स्वीकार करता हूँ, मैं आत्मसमर्पण कर चुका हूँ । सदा से अधिक इस समय मैं शान्त हूँ । केवल आर्थिक दृष्टि से ही कुछ कठिनाई है । हाँ, भारतीय लोग कुछ ऋणी भी हैं । मैं मद्रास तथा भारत के कुछ मित्रों से प्रयत्न करूँगा । अस्तु, मुझे अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मुझे यह पूर्वाभास हो चुका है कि मेरी माँ अब अधिक दिनों तक जीवित न रह सकेंगी । इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ त्याग का आह्वान भी मुझे मिल रहा है कि उच्चाभिलाषा, नेतृत्व तथा यशाकांक्षाओं को मुझे त्यागना होगा । मेरा मन इसके लिए प्रस्तुत है तथा मुझे यह तपस्या करनी होगी । लेगेट के पास के एक हजार डालर, और यदि कुछ अधिक एकत्र किया जा सके, आवश्यकता पड़ने पर काम चलाने के लिए पर्याप्त होंगे । क्या आप मुझे भारत वापस भेज देंगी? मैं कभी भी तैयार हूँ । मुझसे मिले बिना फ्रांस न जायँ । अब मैं कम-से-कम 'जो' तथा निवेदिता के कल्पना-विलासों की तुलना में व्यावहारिक बन गया हूँ । मेरी ओर से वे अपनी कल्पनाओं को मूर्त रूप प्रदान करें – मेरे निकट अब उनका कोई मूल्य नहीं है । मैं आप, सारदानन्द एवं ब्रह्मानन्द के नाम से मठ की वसीयत कर देना चाहता हूँ । ज्योंही सारदानन्द के यहाँ से कागजात मेरे पास आ जायेंगे, मैं यह कर दूँगा । तब मुझे छुट्टी मिलेगी । मैं चाहता हूँ विश्राम, एक मुट्ठी अन्न, कुछ एक पुस्तकें तथा कुछ लिखा-पढ़ी करने का कार्य मुझे प्राप्त हो । माँ अब मुझे स्पष्ट रूप से दिखा रही हैं । इतना अवश्य है कि उन्होंने सर्वप्रथम इसका आभास आपको ही दिया था, पर उस समय मुझे विश्वास नहीं हुआ था । तथापि अब यह स्पष्ट है कि १८८४ ई. में मेरे लिए अपनी माँ को छोड़ना एक महान त्याग था और आज अपनी माँ के पास लौट जाना उससे भी बड़ा त्याग है । शायद माँ की यही इच्छा है कि प्राचीन काल के महान आचार्य की भाँति मैं भी कुछ अनुभव करूँ, है न यह बात? मैं स्वयं की अपेक्षा आपकी परिचालना में अधिक विश्वास रखता हूँ । 'जो' तथा निवेदिता के हृदय महान् हैं; किन्तु मेरे परिचालन की बागडोर माँ अब आपको ही सौंपना चाहती हैं । क्या आपको भी कुछ प्रतीत हो रहा है? इस बारे में आपकी राय क्या है?

मुझे यह दिखायी दे रहा है कि अब मंच से सन्देश का प्रचार करना मेरे लिए सम्भव नहीं है । ... इससे मैं आनन्दित ही हूँ । मैं विश्राम चाहता हूँ । मैं थक गया हूँ – ऐसी बात नहीं है; किन्तु अगला अध्याय होगा – वाक्य नहीं, किन्तु अलौकिक स्पर्श, जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव का था । 'शब्द' आपके पास चले गये हैं और 'आवाज' निवेदिता के पास । अब मुझमें ये नहीं हैं । मैं प्रसन्न हूँ । मैं समर्पित हो चुका हूँ । केवल मुझे भारत में ले चलिए । ... 'माँ' आपको ऐसा करने के लिए प्रेरित करेंगी, मैं निश्चित हूँ ।

आपकी चिरसन्तान,
विवेकानन्द

अभ्यास का महत्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के 'चिन्तन' कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रकाशित किये जाते रहे हैं और काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर हम उन्हें क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी रायपुर के सौजन्य से गृहीत हुआ है। – स.)

जीवन के हर क्षेत्र में अभ्यास की बड़ी महिमा है। किसी भी क्रिया को इस प्रकार दुहराना कि वह सहज हो जाय, अभ्यास कहलाता है। अभ्यास की प्रारम्भिक प्रक्रिया उबाऊ और कष्टदायक होती है। पर जब अभ्यास सध जाता है, तब वही प्रक्रिया हमारे लिए सहज होकर सुखकर हो जाती है। हम तैरने का अभ्यास करते हैं। पहले-पहल अंग अंग टूटने लगते हैं, देह थकावट से चूर हो जाती है, परन्तु जब तैरने का अभ्यास सध जाता है, तब हम अपनी थकावट दूर करने को तैरने जाते हैं। जाकर पानी पर चित लेट जाते हैं। हाथ-पैर तनिक नहीं हिलते। पर इस क्रियाहीन दिखनेवाली स्थिति को साधने के लिए हमें कितना अभ्यास करना पड़ता है, यह तो वही जानता है, जो इस प्रक्रिया से गुजरा है।

हमें रविशंकर का सितारवादन कितना चमत्कृत करता है, पर उनके उस मुग्धकारी सितार-वादन के पीछे अभ्यास निहित है। जब हम टाइप करना सीखते हैं, तो धीरे धीरे अपनी उँगली देख-देखकर 'की-बोर्ड' पर रखते हैं। हमारा ध्यान तनिक इधर-उधर बँटा नहीं कि भूल हो जाती है। पर जब टाइपिंग का अभ्यास सध जाता है, तब हम दूसरों से बात करते हुए भी टाइपिंग कर लेते हैं, हमें 'की-बोर्ड' की ओर देखने की जरूररत ही नहीं पड़ती। मानो हमारे मन का एक भाग अभ्यास के फलस्वरूप टाइपिंग की क्रिया से सदैव जुड़ा रहता है।

जैसे भौतिक क्षेत्र में मनुष्य की सफलता अभ्यास पर निर्भर करती है, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सफलता का रहस्य अभ्यास ही है। हमारा मन बड़ा चंचल है। उसकी चंचलता को समझाने के लिए स्वामी विवेकानन्द एक बन्दर की उपमा देते हैं। बन्दर स्वभाव से चंचल होता है। कल्पना करें कि उसे शराब पिला दी गयी है, तो वह कितना चंचल हो जायेगा! अब और मान लें कि उस मदमस्त बन्दर को बिच्छू ने भी डंक मार दिया है। तो इसके फलस्वरूप हम बन्दर की जितनी चंचलता की कल्पना करेंगे, हमारा मन वैसा ही चंचल है। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे चंचल मन को अपने काबू में किया जा सकता है? इस पर प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि मन को काबू में लाने की क्या जरूरत हैं? इसका उत्तर यह है कि चंचल मनवाला व्यक्ति न दुनिया में सुख से रह सकता है और न अध्यात्म के क्षेत्र में ही प्रगति कर सकता है। चंचल मनवाले विद्यार्थी परीक्षा में सन्तोषजनक रूप से उत्तीर्ण नहीं हो पाते। चंचल मनवाला व्यवसायी अपने व्यवसाय में मन नहीं लगा पाता। इसलिए उसे अभीष्ट सफलता भी नहीं मिल पाती। चंचल मन के द्वारा

जब यह लोक ही नहीं सधता, तब उससे अध्यात्म सधने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतएव चंचल मन को निग्रह में लाना सभी दृष्टि से आवश्यक है। पर प्रश्न यह है कि क्या ऐसा चंचल मन काबू में लाया जा सकता है?

यही प्रश्न अर्जुन ने श्रीकृष्ण से किया था। पूछा था –

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

– कृष्ण, मन तो अत्यन्त चंचल है, उसका स्वभाव ही मथने का है, वह बड़ा बली और जिद्दी है। उसको काबू में लाना मैं वैसा ही कठिन मानता हूँ, जैसे वायु को वश में करना।

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण अर्जुन की बात नहीं काटते, उसका समर्थन करते हैं, पर साथ ही वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि मन को वश में नहीं लाया जा सकता। वे कहते हैं –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

– हे महाबाहो, निःसन्देह मन अत्यन्त चंचल और दुर्जय है, पर हे कुन्तिपुत्र, ऐसे मन को भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा काबू में लाया जा सकता है।

यहाँ पर भगवान कृष्ण ने 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग किया है। अभ्यास के द्वारा दुर्जय मन को भी वश में किया जा सकता है। जो बात पहले सागर को पार करने के समान दुष्कर मालूम पड़ती है, अभ्यास के द्वारा वही गोष्पद को लाँघने के समान सहज हो जाती है।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। एक ग्वाला रोज गाय के बछड़े को हाथों में लेकर उठा लेता था। बछड़ा बढ़ता गया, पर ग्वाला रोज ही उसे उठा लेता। एक दिन वह बछड़ा भारी-भरकम साँड़ बन गया, पर ग्वाला उसे भी उठाकर सबको चमत्कृत कर देता। उसका राज यह था कि वह उसे उसके बचपन से ही रोज उठाता आ रहा था।

यही अभ्यास का चमत्कार है। कहा भी तो है – **रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान** – बाल्टी की रस्सी रोज कुएँ के पत्थर पर चल-चलकर उसे काट देती है। यह अभ्यास की क्षमता है। ☐

ग्राहकों को सूचना

इस अंक के आवरण पर छपे पते के साथ आपकी नयी ग्राहक संख्या भी दी जा रही है। कृपया इसे नोट कर लें और भविष्य में पत्र-व्यवहार करते समय इसका उल्लेख अवश्य करें। आपको पते में कोई भूल या अधूरापन दिखे, तो पिन कोड सहित अपने पूरे पते से हमें अवगत करावें।

– व्यवस्थापक

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(बहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे सकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

खोजो अपने अन्त:पुर में

पिछले अध्याय के अन्त में ठाकुर बहूदक और कुटीचक के प्रसंग में कहते हैं, "जो साधु अनेक तीर्थों का भ्रमण करते हैं, उनका नाम है बहूदक, और जो एक जगह डटकर आसन जमा देते हैं उन्हें कुटीचक कहते हैं।" बूढ़े गोपाल के तीर्थ जाने के प्रसंग में कहते हैं, "जब तक यह बोध है कि ईश्वर वहाँ है – वहाँ है, तब तक अज्ञान है। जब यहाँ है, यह बोध हो जाता है, तब ज्ञान।" अर्थात वे हमारे हृदय में बैठे हैं, और हम उन्हें देश-विदेश में खोजते फिर रहे हैं। ठाकुर ने उपमा के रूप में वह कथा सुनाई, जिसमें एक आदमी हाथ में लालटेन लिए तम्बाकू की टिकिया सुलगाने के लिए आग के लिए पड़ोसी के घर गया था। समस्त तीर्थों के मूल हमारे सामने खड़े हैं, तो भी हम उन्हें छोड़कर तीर्थों के चक्कर लगाया करते हैं। रामचन्द्र दत्त कहते हैं कि गुरुवाक्य में विश्वास हो, इसलिए गुरु शिष्य को तीर्थ जाने का निर्देश देते हैं। असल में तीर्थ जाने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। वहाँ जाने पर व्यक्ति के अन्त:करण में जो हैं, उन्हीं को बाहर भी देखकर भाव का उद्दीपन होता है, भीतर का धर्मभाव जाग्रत होता है। यदि भीतर कोई भाव न हो, तो तीर्थ जाने से कोई लाभ नहीं।

चुनीलाल आदि सब वृन्दावन से लौटे हैं। श्रीरामकृष्ण विस्तार से राखाल तथा उनके साथियों की खबर पूछ रहे हैं। वे भक्तों के ऐहिक तथा आध्यात्मिक, सभी विषयों की खबर रखते थे। इसके बाद नारायण की सरलता की बात उठी। सरलता मनुष्य को भगवान के मार्ग में आगे बढ़ा देती है। इसीलिए सरल व्यक्ति को देखकर ठाकुर बड़े प्रसन्न होते थे। 'छोड़ कपट चतुराई' – कपट और चतुराई छोड़कर भगवान की ओर जाना पड़ता है।

सर्वभूतों में आत्मदर्शन

चैतन्यलीला नाटक देखने थियेटर जाने की बात उठी। बात चल रही है कि वेश्याएँ चैतन्यलीला की अभिनेत्रियाँ हैं। परन्तु ठाकुर कहते हैं, "मैं उन्हें माँ आनन्दमयी देखूँगा। ... नकली फल देखने पर यथार्थ फल की बात याद आ जाती है।" यही तो association of ideas है। इसमें एक वस्तु किसी अन्य वस्तु का उद्दीपन करा देती है। जो सही अर्थों में भक्त है, उसकी कोई कामना नहीं होती, वे केवल शुद्धाभक्ति की प्रार्थना करते हैं।

सिद्धाई ईश्वर प्राप्ति के मार्ग विघ्न है

इसके बाद ठाकुर सिद्धाई की निरर्थकता के सम्बन्ध में कहते हैं । सिद्धाई के साथ आध्यात्मिक जीवन का कोई नाता नहीं है । ये आगे तो बढ़ाती नहीं, बल्कि साधक के जीवन में विघ्न ही उपस्थित करती हैं । भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था – आठ सिद्धियों में से एक के भी रहते मुझे नहीं पा सकोगे । इसीलिए ठाकुर बारम्बार सिद्धाई के विषय में सावधान कर दे रहे हैं । ये सिद्धियाँ क्रमश: भगवान को भुलाकर कुमार्ग पर ले जाती हैं ।

सामान्य लोगों की धारणा है कि साधु लोग हाथ देखना जानते हैं, दवा देना जानते हैं, नौकरी लगवा देना जानते हैं – और इस प्रकार अलौकिक शक्ति के अधिकारी होते हैं । इसी कारण लोग साधु के पास आकर यही सब याचना करते हैं । मैं अपने स्वयं का अनुभव बताता हूँ – एक बार मैं एक धनी व्यक्ति के घर में अतिथि हुआ । उनकी एक सगी ने आकर मुझसे पूछा – क्या आप हाथ देखना जानते हैं? मैंने कहा – नहीं । – क्या आप कुण्डली देखना जानते हैं? मैंने कहा – नहीं । – तो फिर आप क्या जानते हैं? मैं भी सोचने लगा – क्या जानता हूँ? तब गृहस्वामी सज्जन बड़े लज्जित होकर बोले, "ये लोग यह सब नहीं करते, इनसे वह सब मत पूछिए ।" लोग ऐसी ही आशा करते हैं । परन्तु इसके पीछे एक कारण भी है । बौद्धयुग में बौद्ध-संन्यासी अनेक रोगों की औषधियाँ जानते थे और लोगों के कल्याणार्थ इन औषधियों को कन्धे पर उठाये भ्रमण करते थे । लोगों के माँगने पर वे औषधि देते थे । इसीलिए लोगों की धारणा हो गयी है कि साधु हैं इसलिए चिकित्सा भी जानते होंगे । नहीं जानता – कहने पर भी लोग विश्वास नहीं करते ।

इसके बाद वे कहते हैं – सरल और विनयी होना पड़ता है । "मैं ही समझता हूँ, बाकी सब मूर्ख हैं – ऐसी बुद्धि मत करना । सबको प्यार करना चाहिए । कोई पराया नहीं है ।" श्री माँ ने भी कहा है – यह जान रखना कि कोई पराया नहीं, सब अपने हैं । सरल और विनयी होना पड़ता है । प्रह्लाद की कथा के माध्यम से वे समझाने का प्रयास करते हैं, "भगवान ने ही एक रूप में कष्ट दिया । अब उन लोगों को कष्ट देने से भगवान को ही कष्ट होगा ।" क्योंकि सर्वभूतों में एकमात्र वे भगवान ही विराजमान हैं । इसलिए सबको भगवान समझकर प्यार कर पाने पर, वही प्रेम सार्थक है । नहीं तो वह हमारे बन्धन का कारण बन जाता है । देहबुद्धि रहने पर वह बन्धन की ही सृष्टि करता है ।

ईश्वर के लिए उन्माद

इसके बाद के परिच्छेद में वे श्रीमती (राधाजी) के प्रेमोन्माद के बारे में बताते हुए कहते हैं, "फिर भक्ति का उन्माद भी है जैसे हनुमान को हुआ था ।" हनुमानजी का दास्य-भाव है । उसी भाव में उन्मत्त होकर वे श्रीराम को मारने दौड़े थे । क्यों? इसलिए कि श्री सीताजी अग्नि में प्रवेश करने जा रही हैं और प्रभु श्रीराम ने उन्हें अग्नि में प्रवेश करने दिया, अत: प्रभु के प्रति उन्हें मान हो गया था । यहाँ पर भक्ति का उन्माद है ।

"इसके बाद है ज्ञानोन्माद । पागल की भाँति एक ज्ञानी को देखा था । लोगों ने कहा कि वह राममोहन राय की ब्राह्मसभा का एक आदमी था । उसके एक पैर मैं फटा जूता था, हाथ में बाँस की पतली छड़ी, एक हण्डी और आम का पौधा । गंगाजी में उसने डुबकी लगायी, फिर कालीमन्दिर में गया । ... उसने कुत्ते के पास पहुँचकर उसके कान पकड़कर उसका

जूठा खाया। कुत्ते ने कुछ भी नहीं किया।'' ठाकुर हृदय से बोले थे – मेरी भी क्या ऐसी ही दशा होगी?

हृदयराम एक बार इसी प्रकार के एक ज्ञानी के पीछे पीछे गये थे। वे उन्मत्त थे। पहले तो वे हृदय को मारनें दौड़े, परन्तु जब देखा कि यह कैसे भी पीछा नहीं छोड़ता, तो बोले – देख, इस नाली का पानी और गंगाजल जब एक लगने लगें, तब समझना कि ज्ञान हुआ है। अर्थात जब नाली का पानी भी गंगाजल के समान पवित्र बोध हो। क्योंकि गंगा वैसे ही कभी अपवित्र नहीं होतीं, जैसे सूर्य का प्रकाश, अग्नि आदि – ठाकुर ने ऐसे कई दृष्टान्त दिये हैं। सूर्य या अग्नि, अपवित्र वस्तु को प्रकाशित करके भी स्वयं अपवित्र नहीं होते –

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।। कठ. २/२/११

इसके बाद अपने स्वयं के उन्माद के बारे में कहते हैं, ''मेरी उन्माद-अवस्था थी। नारायण शास्त्री ने आकर देखा, कन्धे पर एक बाँस रखकर टहल रहा था। तब उसने आदमियों से कहा – अः! इसे तो उन्माद हो गया है।'' उन्माद अर्थात पागलपन। साधुओं में पागल का अर्थ है – भगवान के लिए पागल। इस तरह की अवस्था में ठाकुर ने नीच जाति के हाथ का भी अन्न खाया है और कंगालों का जूठा भी खाया है। परन्तु बाद में वे कहते हैं, ''अब वैसा नहीं कर सकता।'' वे ज्ञान देने आए थे और सर्वदा उन्मत्त रहने पर जगत को कुछ देना नहीं हो पाता। इसीलिए वे सामान्य लोगों के समान आचरण करते थे, स्वयं को प्रच्छन्न रखते थे।

ठाकुर ब्राह्मण के हाथ का ही पकाया हुआ खाते थे। इस प्रथा के अनुसार आज भी मठ-मिशन में यही नियम प्रचलित है। ठाकुर का भोग ब्राह्मण ब्रह्मचारियों के द्वारा ही तैयार करवाकर संन्यासियों द्वारा निवेदित किया जाता है।

एक भक्त कहते हैं, ''यह प्रेम का उन्माद या ज्ञान का उन्माद अगर संसारी आदमी को हो तो गृहस्थी भला कैसे चलेगी?'' इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं, ''गृहस्थ के लिए मन से त्याग है, बाहर से नहीं।'' यह ठीक है कि त्याग के बिना कुछ नहीं होगा, तथापि संन्यासी जैसा करे, वैसा ही गृहस्थ को भी करने की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ को मन से त्याग करना होगा। इसीलिए उन्होंने केशव सेन से कहा था, ''भक्ति-नदी में पूरी तौर से डूब जाने से (घर का) काम कैसे चलेगा? स्त्रियों की दशा क्या होगी? इसलिए बीच बीच में बाहर आना चाहिए।'' बड़ी सार्थक बात है। संसारी भला सर्वस्व-त्याग कैसे करेगा? इसलिए उन्होंने गृहस्थ को सर्वस्व-त्याग करने के लिए कभी नहीं कहा। उन्होंने कहा – मन से त्याग करो। मन को लेकर ही तो सब है। मन से ही आसक्ति और मन से ही अनासक्ति है। संन्यासी का आदर्श जगतकल्याण के लिए है। इसीलिए उन्हें भीतर-बाहर, दोनों तरह से त्याग करना होगा, अन्यथा वह आदर्श लुप्त हो जायगा। इसी कारण एक ओर तो उन्होंने अपने त्यागी भक्तों को बड़ी सजगता से पूर्ण निर्दोष रूप में तैयार किया और दूसरी ओर नाग महाशय को गृहस्थों की शिक्षा के लिए संसार में रखा था।

इसके बाद वे प्रसंग के अनुसार कहते हैं, ''हाजरा कहता है, 'तुम रजोगुणी आदमियों को बड़ा प्यार करते हो।' यदि ऐसी बात है तो हरीश, लाटू – इन्हें क्यों प्यार करता हूँ। नरेन्द्र को क्यों प्यार करता हूँ? उसके तो भुने भाँटे के साथ खाने को नमक तक नहीं है।''

असल में हाजरा के घर में कुछ देनदारी थी और उसे आशा थी कि ठाकुर कुछ व्यवस्था कर देंगे। परन्तु ठाकुर ने कुछ किया नहीं, इसीलिए अभिमान में वे यह सब कह रहे हैं।

इसके बाद थियेटर में बैठने की व्यवस्था पर चर्चा चली। ठाकुर स्वयं को निचली श्रेणी में रखना पसन्द करते थे, इसलिए अधिक पैसा खर्च करके कीमती बाक्स में बैठना नहीं चाहते थे। ठाकुर का अभिप्राय यह है कि देखने से ही मतलब है, चाहे जहाँ बैठकर भी हो, देखने को मिल जाना ही पर्याप्त है।

विविध प्रसंग

ठाकुर 'चैतन्य-लीला' नाटक देखने के लिए थियेटर जाते समय रास्ते में महेन्द्र मुकर्जी की आटा-चक्की में थोड़ा विश्राम कर रहे हैं। वैसे महेन्द्र मुकर्जी दो-एक बार ठाकुर के पास गये हैं, परन्तु उनके पिता ठाकुर को नहीं पहचानते। कहीं ठाकुर का यथायोग्य सम्मान न हो – इसी आशंका से वे उन्हें अपने घर न ले जाकर, चक्की में ले गये हैं। ठाकुर उस समय भावाविष्ट थे, इसलिए वे 'पानी पीऊँगा' कहकर मन को बाह्य जगत में लौटाने का प्रयास कर रहे हैं। समाधिस्थ व्यक्ति में कोई कामना नहीं रहती, परन्तु जगत के कल्याण हेतु उन्हें मन को समाधि-अवस्था से नीचे उतारना पड़ता है। तब वे इन्हीं छोटी-मोटी कामनाओं का आश्रय लेकर मन को बाह्य-जगत में लौटाने की चेष्टा करते हैं।

श्रीरामकृष्ण 'चैतन्य-लीला' देखने जायेंगे, इसी कारण उनके मन में चैतन्यदेव के विषय में तरह तरह की बातें उठ रही हैं। वे कह रहे हैं, "हाजरा कहता है, यह सब शक्ति की लीला है, इसके भीतर विभु नहीं हैं।" ठाकुर का मत है, "विभु को छोड़कर शक्ति कभी रह सकती है?" ठाकुर की ऐसी उक्तियाँ अनेक स्थानों पर है। यहाँ भी वे कहते हैं, "मैं जानता हूँ, ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं। जैसे जल और उसकी हिमशक्ति, अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। वे विभु रूप से सर्वभूतों में विराजमान हैं, परन्तु कहीं उनकी शक्ति का अधिक और कहीं कम प्रकाश है।" शक्ति के प्रकाश में तारतम्य है, परन्तु वस्तु की सत्ता में तारतम्य नहीं है।

इसके बाद शुद्ध भक्त के प्रसंग में वे कहते हैं, "जो शुद्ध भक्त है, वह कभी ऐश्वर्य के लिए प्रार्थना नहीं करता।" शुद्ध भक्त केवल शुद्ध-भक्ति के लिए ही प्रार्थना करता है। ठाकुर ने बारम्बार कहा है कि जो ऐश्वर्य चाहता है, वह भगवान की सत्ता से दूर चला जाता है। ऐश्वर्य-बुद्धि रहने से ही पार्थक्य की सृष्टि होती है।

आटा-चक्की में ही बैठे हुए बातें हो रही हैं। सन्ध्या हो गयी है या नहीं यह जानने के लिए ठाकुर हाथ के रोएँ देख रहे हैं – "रोएँ अगर न गिने जो सकें, तो समझना चाहिए कि सन्ध्या हो गयी है।" हम लोगों ने भी देखा है – उन दिनों सब जगह घड़ी नहीं होती थी, घड़ी का प्रचलन भी अधिक नहीं था, इसलिए वृद्ध लोग – सन्ध्या हुई है या नहीं – यह जानने के लिए रोएँ देखते थे। ठाकुर कह रहे हैं, "संध्या होने पर सब काम छोड़कर ईश्वर-चिन्तन करना चाहिए।

इसके बाद ठाकुर स्टार थियेटर पहुँचे। गिरीश घोष के साथ तब तक उनका परिचय नहीं हुआ था। गिरीश ने भी ठाकुर का केवल नाम ही सुन रखा था। ठाकुर आये हैं – यह सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें ले जाकर बॉक्स में बिठाया। यहाँ का वर्णन पढ़कर

पता चलता है कि उन दिनों जो लोग बॉक्स में बैठते थे, उन्हें पंखा झलने के लिए एक सेवक नियुक्त रहता था। उन दिनों बिजली के पंखे नहीं थे, इसीलिए ठाकुर के लिए भी पंखा झलने की व्यवस्था हुई। हॉल देखकर वे प्रसन्न हुए। कहने लगे, "बहुत-से लोगों के एक साथ होने से उद्दीपना होती है। तब मैं यथार्थ ही देखता हूँ कि वे ही सब हुए हैं।"

इसके बाद नाटक के दृश्यों का वर्णन है। पहला दृश्य है – पाप और छह रिपुओं की सभा का। फिर अरण्य-मार्ग में विवेक, वैराग्य और भक्ति की बातचीत। भक्ति कह रही है, "नदिया में गौरांग ने जन्म ग्रहण किया है, इसलिए विद्याधरियाँ और ऋषि-मुनि छद्मवेश धारण कर उनके दर्शन करने जा रहे हैं।" स्तुति आरम्भ हुई। ऋषि-मुनि तथा विद्याधरियों ने गाना आरम्भ किया। यह गीत गिरीश घोष की रचना है। रचना में वैशिष्ट्य है। पुरुषगण जो कड़ियाँ गाते हैं, वे पौरुषव्यंजक है और स्त्रियाँ जो गाती हैं उनमें कमनीय भाव है। गीत सुनकर श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये।

पहले ईश्वर-भक्ति, उसके बाद संसार-धर्म

निमाई के शिक्षागुरु गंगादास निमाई से कहते हैं कि संसार-धर्म ही श्रेष्ठ धर्म है। इस पर ठाकुर कहते हैं – संसारी लोग दोनों तरफ का सँभालकर चलना चाहते हैं। ठाकुर ने स्वयं भी उपदेश दिया है – यह भी करो और वह भी करो। अर्थात एक हाथ से भगवान को पकड़ो और दूसरे हाथ से गृहस्थी करो। तो फिर यहाँ पर वे कटाक्ष क्यों कर रहे हैं? उनका अभिप्राय यह था कि दोनों तरफ सँभालना, परन्तु जब सारा मन-प्राण उस भाव से परिपूर्ण हो जायगा, तब इच्छा होने पर भी दोनों तरफ नहीं सँभाल सकोगे, जैसा कि यहाँ निमाई कहते हैं, "मैं स्वेच्छा से संसार-धर्म की उपेक्षा नहीं कर रहा हूँ। मेरी तो यही इच्छा है कि लोक-परलोक दोनों बनें।" इसलिए ठाकुर कहते हैं कि पहले एक हाथ से उनको पकड़ो, फिर समय होने पर उन्हें दोनों हाथों से पकड़ना। ठाकुर के कहने में एक विशेषता है। वे ऐसा नहीं कहते कि पहले एक हाथ से संसार करो, फिर बाद में थोड़ा-सा ईश्वर को पकड़ो। ईश्वर को पकड़ना ही मुख्य बात है। उन्होंने उपमा दी है – पहले हाथ में तेल लगा लो, उसके बाद कटहल काटो। पहले दही को मथकर मक्खन निकाल लो, फिर उसे संसार-जल में रखने पर वह उसमें डूबेगा नहीं। इसलिए पहले ईश्वर की भक्ति प्राप्त करके, बाद में संसार करने में दोष नहीं होगा। साधारण संसारी लोग जो कहते हैं कि यह भी सँभालो और वह भी सँभालो, इसका अर्थ है कि वे संसार और भगवान को समान महत्त्व देते हैं। पर ठाकुर ने ऐसा नहीं कहा। इस पार्थक्य को विशेष रूप से स्मरण रखना होगा।

अब यदि प्रश्न उठे कि ईश्वर की भक्ति हो जाने पर व्यक्ति संसार में प्रवेश क्यों करेगा? इसका उत्तर यह है कि जिसकी जैसी प्रकृति है, उसको उसी के अनुसार चलना पड़ेगा। ईश्वर-भक्ति आ जाने पर भी वह संसार में प्रवेश करने को बाध्य हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु तीव्र वैराग्य होने पर ऐसा भी सम्भव है कि व्यक्ति संसार में प्रवेश ही न करे। यहाँ ठाकुर उनके बारे में कह रहे हैं, जिनमें संस्कार है। ऐसे लोग पहले भक्तिलाभ करके फिर संसार में प्रवेश करें, तो कोई क्षति नहीं होगी। केवल प्रवृत्ति के वशीभूत होकर संसार में प्रवेश करने से फिर निकलना कठिन होगा। जैसा कि ठाकुर कहते हैं – विशालाक्षी नदी की भँवर है, एक बार फँस जाने पर फिर बचने का उपाय नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि

ठाकुर ने संसार की निन्दा की है या उसे छोड़ देने को कहा है । उन्होंने यही कहा है कि भगवान को पकड़कर संसार करो । भगवान ही मुख्य और संसार गौण है । दूसरे शब्दों में ठाकुर के कहने का अभिप्राय यह है कि हाथ का काम समाप्त हो जाने पर, दोनों हाथों से उन्हें पकड़ना । यहाँ भाग-दौड़ का प्रश्न नहीं है । मन की वर्तमान गति के अनुसार पहले निर्जन में जाकर भक्तिलाभ करो और उसके बाद संसार में प्रवेश करो, परन्तु यही अन्तिम बात नहीं है । अन्त में सम्पूर्ण मन भगवान को अर्पित करना होगा । जब तक यह नहीं हो रहा है, तब तक थोड़ा-सा मन देकर संसार के कर्तव्य पूरे करो, इसमें कोई दोष नहीं है ।

और भी एक बात है । विज्ञानी की अवस्था में संसार में रहना या न रहना समान है । वे संसार के भीतर रहते हैं तो भी वे इसी में ब्रह्म-दर्शन करते हैं, अत: उनके संसार-त्याग या ग्रहण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । और पूर्ण रूप से ईश्वर में स्थित हो जाना – यही हमारे भी जीवन का उद्देश्य है । अत: संसार को यहाँ इसी प्रयोजन-सिद्धि के उपाय-रूप में ग्रहण करने पर उसमें कोई दोष नहीं है । इसीलिए प्राचीन काल में बालकों को अल्प आयु में ही गुरुगृह भेज दिया जाता था । वहाँ लिखाई-पढ़ाई के साथ मन की भी तैयारी हो जाती थी । आचार्य के द्वारा घर लौट जाने की अनुमति देने पर, शिष्य घर लौटकर संसार आश्रम में प्रवेश कर सकता था । तब वह गृहस्थी भी एक आश्रम होता था । इस युग में हम उस तरह की तैयारी के बिना ही उपयुक्त आयु या कोई नौकरी मिल जाने पर अथवा थोड़ी पढ़ाई-लिखाई हो जाने पर गृहस्थी में प्रविष्ट हों जाते हैं । इसीलिए संसार हमारे लिए आश्रम नहीं बन पाता, पार्थक्य यहीं पर है ।

इसीलिए ठाकुर ने बार बार कहा है कि संसार को सुलझाने से पहले अपने आपको सुलझाने का प्रयास करो, अन्यथा परिणाम के रूप में देखोगे कि सब तो सुलझ गया, केवल स्वयं को सुलझाना नहीं हो पाया । ☐ **(क्रमश:)** ☐

परोपकार से शक्ति

काम में लग जाओ; फिर देखोगे - इतनी शक्ति आयेगी कि तुम सँभाल नहीं सकोगे । दूसरों के लिए रत्ती-भर भी काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है, दूसरों के लिए जरा-सा भी सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह का-सा बल आ जाता है । तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते करते मर भी जाओ, तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी । गीता में पढ़ा है न – **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति** – हे तात, कल्याण करनेवाला व्यक्ति कभी दुखी नहीं होता ।

— स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (३४/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके चौतीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

समत्व का सिद्धान्त सत्य है, तथापि जैसे बाली उसका मनमाना अर्थ लगाकर, उसका दुरुपयोग करता है; उसकी आड़ में अपराध और अभिमान को ही बढ़ावा देता है, वैसे ही रावण के जीवन में भी 'सोऽहम्' अथवा 'अहं ब्रह्माऽस्मि' आदि वेदान्त के महावाक्यों का दुरुपयोग दिखाई देता है। अतः ज्ञान या सिद्धान्त के साथ जब यह समस्या जुड़ी हुई दिखाई दे, तो वहाँ इसका सर्वश्रेष्ठ समाधान है – ज्ञान के साथ भक्ति का सामंजस्य। इसीलिए भगवान स्वयं कहते हैं कि यद्यपि लोग मुझे सम कहते हैं, तथापि मेरे सेवक मुझे अधिक प्रिय हैं और उन सेवकों में भी जो जितना अनन्य है वह मुझे उतना ही अधिक प्रिय है।

हनुमानजी महान तत्त्वज्ञ हैं, परन्तु उनकी भाषा क्या है? वे जब भी बोलते हैं, तो दास की भाषा बोलते हैं। कहते हैं – 'मैं दास हूँ'। क्या 'सोऽहम्' बोलना आवश्यक है? हनुमानजी का जो स्वरूप है, क्या वह 'मैं दास हूँ' कहने से कहीं दूर चला गया? बल्कि बड़ी मधुर बात आती है। हनुमानजी जब लंका से लौटकर आए, तो प्रभु ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। हनुमानजी प्रभु के चरणों में गिर पड़े। प्रभु उन्हें उठाकर हृदय से लगा लेने के लिए उठाने लगे परन्तु उठा नहीं पा रहे हैं, बार बार प्रयत्न कर रहे हैं –

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥ ५/३३/१

प्रभु बार बार उठाने की चेष्टा करते हैं परन्तु हनुमानजी उठना नहीं चाहते। बड़ी सांकेतिक भाषा है। भक्त और भगवान में मीठा विनोद चल रहा है। भगवान बोले – तुम्हारा यह व्यवहार तो भक्ति-सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। – क्यों? – तुमने मुझे 'रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए' कहकर पुकारा –

चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत। ५/३२

और जब मैं उठा रहा हूँ, तो तुम्हें उठ जाना चाहिए। यदि तुम्हें पड़े रहना ही पसन्द है, तो मुझे पुकारने की क्या आवश्यकता थी? हनुमानजी ने दो बातें कहीं, एक तो भक्ति की दृष्टि से और दूसरी शरणागति की दृष्टि से। भक्ति की दृष्टि से उन्होंने कहा, "प्रभु, जहाँ मैं गिरा हुआ हूँ, उसे यदि गिरना माना जाय, तो फिर उठना किसे कहेंगे? यदि कोई व्यक्ति भूल से किसी कुएँ में गिर गया हो, तो वह चाहेगा कि कोई उसे जल्दी से उठाये, पर जो यह जानकर कि आपके चरणों में ही सब प्रकार से सुरक्षा है, जान-बूझकर आपके चरणों में गिर पड़े, तो भला वह क्यों उठना चाहेगा?" यह भक्त की दृष्टि है। शरणागति की दृष्टि से भी हनुमानजी ने उठना स्वीकार नहीं किया। प्रभु ने कहा, "जैसे पिता बालक को उठाकर

गोद में ले लेना चाहता है; तुम मेरे भक्त हो, शरणागत हो, मैं तुम्हें उठाकर हृदय से लगाना चाहता हूँ, तब तो तुम्हें उठना चाहिए!'' हनुमानजी ने कहा, ''प्रभो, मैं जान-बूझकर नहीं उठना चाहता।'' – क्यों? – जब कोई व्यक्ति उठाता है, तो उठाकर खड़ा कर देता है और छोड़ देता है परन्तु जब तक व्यक्ति उठने की, खड़े रहने की स्थिति में नहीं रहता, तब तक वह उसे पकड़े रहता है। हनुमानजी बोले, ''प्रभो, मुझे भी लगता है कि कहीं मैं उठ गया, तो आप मुझे छोड़ देंगे और कह देंगे कि जरा सँभलकर चला करो और तब सारा भार मुझ पर ही आ जायगा। इसलिए मैं चाहता हूँ कि सारा भार आपके ही हाथ में बना रहे। आप ही निरन्तर इसे सँभाले रहें, तभी मैं निश्चिन्त रहूँगा।'' प्रभु ने कहा, ''तुम तो बड़े ज्ञानी हो, 'ज्ञानीनां अग्रगण्यम्' कहकर लोग तुम्हारी वन्दना करते हैं। अतः भक्ति और शरणागति की दृष्टि से तुम्हारा नं उठना यदि ठीक भी हो, पर ज्ञान की दृष्टि से तो यह ठीक नहीं है।'' – क्यों? – क्योंकि ज्ञान का अभिप्राय है –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान जग माहीं।। ३/१५/७

सर्वत्र एक ब्रह्म-तत्त्व को छोड़कर और कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में जब मैं तुम्हें उठाकर हृदय से लगा लेना चाहता हूँ, तो तुम चरणों को छोड़कर उठना क्यों नहीं चाहते? क्या चरण और हृदय में तुम्हारी भेदबुद्धि है? श्रेष्ठ और निकृष्ट की भेदबुद्धि तो साधारण व्यक्ति में होती है। यदि तुम्हारे मन में यह भेद न होता, तो तुम मेरे उठाने से उठकर हृदय से लग जाते। और यदि भेद है, तो यह तुम्हारे ज्ञान की कमी है। हनुमानजी ने चरणों को पकड़े हुए कहा, ''प्रभो, यदि चरणों और हृदय में कोई भेद नहीं है, तो आप ही चरण से उठाकर हृदय से क्यों लगाना चाहते हैं? यह तो पक्का भेद हो गया। मैं तो यही चाहूँगा कि यदि चरण और हृदय में कोई भेद नहीं है, तो मैं चरणों में ही रहूँ, हृदय में नहीं। यह बड़ी बुद्धिमत्ता की बात है। ज्ञान की परिपूर्णता होते हुए भी हनुमानजी का यह आग्रह है कि मैं चरणों में पड़ा रहूँ। यह भक्ति का आग्रह है। हनुमानजी जानते हैं। वे कहते हैं – महाराज, आप जिनको ऊपर उठाते हैं, उनको कभी कभी गिरा भी देते हैं। ऐसा हुआ है। भगवान राम जब भरतजी से मिलने चले तो जितने ऊपरवाले थे, सब गिर पड़े। ऊपर कौन थे? धनुष, तरकस, दुपट्टा – ये सब भगवान के कन्धे पर थे, परन्तु सब गिर पड़े। क्यों? जो चरणों में गिरे हुए थे, प्रभु जब उसे उठाने चले, तो सब गिर पड़े। सन्त भरत ने प्रणाम किया। कैसे प्रणाम किया –

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं।। २/२४०/२

भरतजी धूल में पड़े हुए हैं। वे साक्षात भगवान के अभिन्न रूप हैं। इतना होते हुए भी उन्होंने पुकार कर कहा - प्रभो, बचाइए, बचाइए। यहाँ पर गोस्वामीजी एक सूत्र देते हैं। भरतजी जब कहते हैं - 'प्रभो, बचाइए' –तो इसमें अनेक भाव हैं। उनमें से एक यह भी है कि प्रभु जब भरतजी को साक्षात ब्रह्म मानने लगे और बोले कि भाई, मिलन तो परिपूर्णता में ही होगी। तब भरतजी की पुकार यह थी कि महाराज, मेरा यह दासत्व बचा ही रहने दीजिए। आप बना सब सकते हैं, परन्तु मैं यही चाहता हूँ कि आप मुझे अपने सेवक, अपने दास के रूप में स्वीकार करें। यही मेरा आग्रह है।

भगवान राम जब श्री भरत से मिलने चले, तब क्या हुआ? तुलना हो गई। जो चरणों में गिरे हुए हैं, उनको तो प्रभु हृदय से लगाने के लिए व्यग्र हो गये और जो कन्धों पर थे वे –

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥ २/२४०/८

दुपट्टा कहीं गिरा, निषंग कहीं गिरा, धनुष कहीं गिरा और बाण कहीं गिरा। हनुमानजी ने कहा, "महाराज, जब आप चरणों में पड़े हुए भक्त को उठाने के लिए दौड़े, तो सब ऊपरवाले गिर पड़े और जो चरणों में पड़ा है, वह सब प्रकार से सुरक्षित है। ऊँचाई पर रहनेवाले जो लोग सोचते हैं कि अब हमारे जीवन में पतन का भय नहीं है, उन्हें तो आप कभी भूल भी सकते हैं और उनका पतन हो सकता है। ऐसा अवसर आ सकता है कि आप दीन और शरणागत भक्त को उठाने के लिए दौड़ पड़ें और ऊँचे लोग नीचे गिर पड़ें।

हनुमानजी का तत्त्वज्ञान क्या है? जो वास्तविक तत्त्वज्ञान है, वह भक्ति का विरोधी नहीं है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भक्ति-सिद्धान्त तो ज्ञान-सिद्धान्त का कवच है। जैसे कवच के बिना योद्धा घायल हो सकता है, उसी प्रकार ज्ञान-सिद्धान्त वाला व्यक्ति यदि भक्ति का कवच धारण न करे, तो दुर्गुणों के द्वारा उसके घायल हो जाने की सम्भावना है। गोस्वामीजी ने भगवान राम की वन्दना करते हुए जब वेदान्त-सिद्धान्त का वर्णन किया और सृष्टि के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया, तो इसे पढ़कर ज्ञान-सिद्धान्त का अनुयायी व्यक्ति बड़ा प्रसन्न हो जाता है कि उन्होंने शुद्ध वेदान्त-मत का प्रतिपादन किया है।

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः।
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः॥ श्लोक १/६

— सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्मादि देवता तथा असुर जिनकी माया के वशीभूत हैं और जिनकी सत्ता से रस्सी में सर्प के भ्रम के समान यह सारा दृश्य जगत सत्य ही प्रतीत होता है।

किसी ने कहा — "महाराज, तब तो बड़ा आसान है। भ्रान्ति के कारण मिथ्या सत्य प्रतीत हो रहा था। मन में भ्रान्ति आ गई थी, तो वह ज्ञान से मिट जाएगी। व्यक्ति को बुद्धिमान होना चाहिए, समझदार होना चाहिए। व्यक्ति बुद्धि के द्वारा यदि सत्य को जान ले, तो फिर सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा।" गोस्वामीजी ने कहा — बिलकुल नहीं। — तो फिर समाधान कैसे होगा? इसका उत्तर वे अगली पंक्ति में देते हैं —

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥ श्लोक १/६

— "इस भवसागर को पार करने की इच्छा रखनेवालों के लिए जिनके चरण ही एकमात्र नौका है।" गोस्वामीजी इस संसार-सागर को मिथ्या तो कहते हैं, परन्तु साथ ही यह भी कह देते हैं कि इस झूठे संसार को यदि पार करना चाहो, तो भगवान के चरणकमलों का आश्रय लो। इसका अभिप्राय यह है कि मोक्ष तो ज्ञान से मिल सकता है, परन्तु मोक्ष का सुख भक्ति के बिना नहीं मिलेगा। इन दोनों में वे भेद कर देते हैं। जैसे किसी वस्तु का होना एक बात है और उसके होने की सुखानुभूति अन्य बात है। कई बार जब आप कुछ होते हैं, तो उसकी रसानुभूति आपको हर समय नहीं होती। रसानुभूति तब होती है, जब उसकी स्मृति जाग्रत हो जाती है। गोस्वामीजी कहते हैं —

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ ७/११९/५

भक्ति क्या है? भक्ति मानो पात्र है। और ज्ञान क्या है? ज्ञान की महिमा उन्होंने कम नहीं की। परन्तु जैसे पूछा जाय कि दूध अधिक महत्वपूर्ण है या बर्तन? तो महत्व तो दूध का ही

है। सब दूध के लिए ही तो बेचैन हैं, परन्तु यदि आप दूध को ही महत्वपूर्ण मानें और बर्तन को छोड़ दें तो आपका दूध रहेगा कहाँ? वह तो मिट्टी में मिलकर गन्दा हो जाएगा, पीने के योग्य नहीं रहेगा या पी लेने पर आपको अस्वस्थ कर देगा। इसी सन्दर्भ में गोस्वामीजी जीव की व्याख्या करते हुए ज्ञान के साथ भक्ति को जोड़ते हैं। एक अन्य प्रसंग में भी वे जीव के लक्षण बताते हुए इस बात को थोड़े अलग ढंग से कहते हैं और वह बड़ा महत्वपूर्ण है। उस प्रसंग में भी वे ज्ञान के साथ भक्ति को जोड़ देते हैं। कहते हैं –

हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥ १/११६/७

एक स्थान पर भगवान राम ने जीव की व्याख्या की। जीव का स्वरूप क्या है? जो अज्ञानी है वह जीव है। जिसे ज्ञान हो गया, वह जीवत्व के घेरे से मुक्त हो गया। दूसरे प्रसंग में गोस्वामीजी कहते हैं कि जिसमें कभी हर्ष का उदय हो और कभी विषाद का, कभी ज्ञान का उदय हो और कभी अज्ञान का – वही जीव है। इसका अभिप्राय यह है कि जो द्वन्द्व में है वह जीव है और जो द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त हो जाता है, उसमें जीवत्व नहीं रह जाता। यह हर्ष और विषाद क्या है? यह जीवन का द्वन्द्व है। ज्ञान-अज्ञान क्या है? एक सिद्ध ज्ञान है और दूसरा सापेक्ष ज्ञान। ये दोनों दिन और रात के समान है। किसी ने गोस्वामीजी से कहा कि ईश्वर निर्गुण-निराकार है। तो इस पर वे बोले –

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकाश।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसी दास॥ (दोहा. २५१)

– यदि कोई अज्ञान के बिना ज्ञान को, अन्धकार के बिना प्रकाश को और सगुण-निरूपण के बिना निर्गुण को सिद्ध कर दे, तो मैं उसे गुरु मानने के लिए तैयार हूँ।

उनका अभिप्राय है कि सापेक्ष दृष्टि से दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यह एक अलग प्रसंग है। यहाँ पर हमें मात्र इतना ही लेना है कि निरन्तर द्वन्द्व का नाम ही जीवन है। ज्ञान-अज्ञान, हर्ष-विषाद आदि का तब तक निरन्तर द्वन्द्व दिखाई देता है, जब व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो जाता। स्वस्थ माने स्व में स्थित होना। शरीर के सन्दर्भ में स्व और स्वस्थता का अर्थ दूसरा है। जीव का स्व क्या है? भगवान राम कहते हैं –मेरे दर्शन का फल बड़ा अनोखा है, इससे जीव को उसका सहज स्वरूप मिल जाता है –

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥ ३/३६/९

यदि हम किसी बड़े व्यक्ति के पास जाएँ, तो वह अपने पास से कुछ दे देगा, परन्तु देते समय अपने लिए बचाकर ही देगा। इस तरह देनेवाला हिसाब से देगा, उसकी कृपणता नहीं छूटेगी और लेनेवाले की भी दीनता दूर नहीं होगी। इसका अभिप्राय है कि इस प्रकार देने और लेनेवाले – दोनों में अभिमान तथा दैन्य की वृत्ति से निवृत्ति नहीं है। परन्तु प्रभु ने कहा – कोई जब मेरे पास आता है, तो मैं उसे अपनी ओर से कुछ नहीं देता; बस, वह मुझे देखते ही स्वयं एक अनोखा फल – अपना सहज स्वरूप पा लेता है।

यही बात विभीषण के प्रसंग में है। विभीषण जब भगवान राम के शरण में आए तो भगवान ने उन्हें 'लंकेश' कहकर पुकारा। विभीषण संकोच में गड़ गये। सोचने लगे कि मेरे मन में लंका के राज्य की वासना थी, प्रभु ने मेरे मन की बात जान ली। इसीलिए उन्होंने मुझे लंका का राज्य दे दिया। विभीषण जब संकोच करने लगे तो भगवान उनसे भी कई

गुना अधिक संकोच में गड़ गये। वहाँ लिखा हुआ है – **सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥ ५/४९**

भगवान को संकोच क्यों हो रहा है? जैसे किसी की कोई मूल्यवान वस्तु गिर गई हो और आप उसे उठाकर उसके हाथ में दे दें, ऐसी स्थिति में यदि वह धन्यवाद दे तब तो ठीक है, परन्तु यदि वह यह कहने लगे कि आप कितने उदार, कितने महान दानी हैं, मुझे आपने इतनी मूल्यवान वस्तु दी, तब क्या वह देनेवाला व्यक्ति सचमुच स्वयं को बड़ा दानी समझकर अभिमान करेगा? अगर वह बुद्धिमान होगा तो अवश्य ही संकोच में पड़ जाएगा कि भाई, यह वस्तु तो तुम्हारी ही है, मैं कोई अपनी जेब से थोड़े ही दे रहा हूँ। इसी तरह भगवान संकोच में गड़े जा रहे हैं, कहते हैं – विभीषण, तुम्हें लंका का राज्य मैंने थोड़े ही दिया, मैंने तुम्हें लंकेश नहीं बनाया। लंकेश तो तुम स्वमेव हो। तुम केवल भूल गये हो और भ्रमवश मान बैठे हो कि लंकेश रावण है। मैं तो तुम्हें इस सच्चाई की याद दिला रहा हूँ कि वास्तविक लंकेश तो तुम्हीं हो, रावण नहीं। यही आध्यात्मिक सत्य है। रावण मूर्तिमान मोह है, विभीषण जीव हैं और लंका हमारे जीवन में प्रवृत्ति का दुर्ग है। इस लंका-रूपी प्रवृत्ति-दुर्ग का वास्तविक स्वामी कौन है? सारी प्रवृत्तियाँ जीव के द्वारा संचालित हो रही हैं। शरीर में यदि जीव न रहे, तो क्या रंचमात्र भी कोई प्रवृत्ति हो सकती है? वस्तुतः जीव ही प्रवृत्तियों का सच्चा शासक है। वह केवल अज्ञान के कारण ही अपने स्वामित्व को भूल गया है। भगवान उसे लंका का राज्य देते नहीं, बल्कि केवल याद दिलाते हैं कि लंका के राज्य के सच्चे स्वामी तुम्हीं हो। यह ईश्वर के द्वारा जीव को स्वामित्व की स्मृति दिलाना है। जीव जिस द्वन्द्व में, जिस भ्रान्ति में पड़ा हुआ है, उस द्वन्द्व तथा भ्रान्ति से मुक्त करने हेतु जब भगवान राघवेन्द्र कृपा करते हैं और भक्त भी उसे कृपा मानता है, तो उसमें अभिमान उत्पन्न नहीं होता। आगे चलकर भगवान यह कहकर अलग हो जाते हैं कि इसमें कृपा की कोई बात नहीं है, यह तो जीव का जो सहज स्वरूप है, उसी की उपलब्धि हो रही है।

यह द्वन्द्व ही जीव का लक्षण है और इस द्वन्द्व से मुक्त होना इतना सरल नहीं है। भाषण में जितनी सरलता से द्वन्द्व से मुक्ति की बात कह दी जाती है, क्या सचमुच यह उतना ही सरल है? ऐसे कितने लोग हैं, जिनके लिए कहा जा सके कि उनके जीवन में न हर्ष है न विषाद। गोस्वामीजी ने उसका एक विश्लेषण प्रस्तुत किया कि इस हर्ष-विषाद की वृत्ति को कैसे धीरे धीरे परिवर्तित किया जाना चाहिए। 'मानस' में इसे बड़े गम्भीर तथा सांकेतिक ढंग से बताया गया है। हर्ष दशरथ में भी है और दशमुख में भी। परन्तु कोई अन्तर है या नहीं? हर्ष विषयी के जीवन में भी है और साधक के जीवन में भी। अन्तर्द्वन्द्व दोनों के जीवन में है। केवल सिद्ध ही इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त है। यद्यपि व्यवहार में कभी कभी उसके जीवन में अन्तर्द्वन्द्व दिखाई देता है। लोक-कल्याण के लिए कभी कभी संत भी अपने जीवन में हर्ष-विषाद को स्वीकार करके चलते हैं, यद्यपि उनमें अपने आप में कोई हर्ष-विषाद नहीं होता। विषयी और साधक के जीवन में यह द्वन्द्व स्वाभाविक रूप में होता है, परन्तु इन दोनों में अन्तर होता है। विषयी के और साधक के हर्ष-विषाद में बहुत बड़ा अन्तर है। रावण के जीवन में हर्ष और विषाद, दोनों का वर्णन है। रावण मोहग्रस्त जीव या साक्षात मोह का प्रतीक है। मोह के साथ हर्ष-विषाद तो होगा ही। रावण के जीवन में हर्ष-विषाद कब हुआ? गोस्वामीजी ने उसके लिए बहुत सुन्दर शब्द चुना। वे कहते हैं कि रावण के

जीवन में सबसे अधिक हर्ष तब हुआ, जब मयदानव ने अपनी बेटी मन्दोदरी का विवाह रावण से कर दिया। गोस्वामीजी ने लिखा – अच्छी स्त्री पाकर रावण बड़ा हर्षित हुआ –

हरषित भयउ नारि भलि पाई। १/१७८/४

और रावण के जीवन में विषाद कब आया? जब हनुमानजी आए, तो विषाद आ गया । बड़ी विचित्र-सी बात है, स्त्री को पाकर हर्षित हो उठा और वैराग्य के आने पर विषादग्रस्त हो गया। कैसी उल्टी बात है? विषाद क्यों हो गया, हनुमानजी ने अक्षय कुमार को मार दिया। बड़ा सांकेतिक शब्द है। रावण के हर्ष-विषाद का केन्द्र कहाँ है? मेघनाद के द्वारा बँधे हुए हनुमानजी ज्यों ही रावण की सभा में आए, तो उन्हें देखकर रावण खूब हँसा। किसी ने कहा कि रावण तो बड़ा निश्चिन्त है। गोस्वामीजी ने कहा – बस ऊपर से। उसने हनुमानजी के लिए बड़े कठोर अपशब्द कहे, परन्तु भीतर क्या स्थिति है? बोले –

कपिहि बिलोकि दसानन बिहसा कहि दुर्बाद।
सुत बध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदयँ बिषाद॥ ५/२०

ऊपर से हँसी और भीतर विषाद। हँसी भी दो प्रकार की होती है – एक तो आन्तरिक आनन्द से प्रेरित हँसी और दूसरी वह है जो विषाद को छिपाने के लिए आवरण के रूप में हमारे जीवन में आती है। रावण का हँसी कैसी है? हँसते-बोलते रावण को अचानक याद आ गई कि इस बन्दर ने मेरे बेटे अक्षय कुमार को मार डाला है। बस याद आते ही रावण का हृदय विषाद से भर गया। इस प्रकार रावण के जीवन में हर्ष और विषाद दोनों है।

ये दोनों जिस रूप में रावण के जीवन में दिखाई देता है उसी रूप में संसार में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में होता है। जब हमें प्रिय और भोग्य वस्तु मिलती है तब हमारे अन्तःकरण में हर्ष होता है, जब हम अपने मन के अनुकूल कुछ पाते हैं तो उसके प्रति हमारे अन्तःकरण में रागात्मिका वृत्ति का उदय होता है। यह मन्दोदरी किसकी बेटी है? मयदानव की। इस मयदानव ने दो वस्तुओं का निर्माण किया। एक तो उसने मन्दोदरी को जन्म दिया है और दूसरे लंका का निर्माण किया है। लंका में जो दिव्य चमत्कार तथा अद्‌भुत रचनाएँ हैं, वे सब मयदानव की ही कृति है। यह मय नाम का दानव बड़ा प्रसिद्ध है। क्योंकि इसका नाम रामायण में भी है और महाभारत में भी। आपने सुना होगा कि मय दानव ने युधिष्ठिर की सभा का निर्माण किया था, जिसमें दुर्योधन को जल में थल और थल में जल का भ्रम हो गया था। जो लोग इसे ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हैं, वे बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। कब रामायण काल, कब महाभारत काल! वह मयदामव कितने दिनों तक जीवित रहा होगा? इस दृष्टि से देखनेवाले भी इसका समाधान देने की चेष्टा करते हैं और कह देते हैं कि भाई, वह तो कारीगरों का एक खानदान था जिसका नाम था मय खानदान। उस खानदान में जो पैदा होता था, वह मय कहलाता था। इस दृष्टि से रामायण काल में जो मय था, वह दूसरा था और महाभारत काल में उसी के वंश में पैदा होनेवाला अनेक पीढ़ियों बाद का दूसरा मय था। ठीक है। जिसको जैसे सन्तोष मिले। जो लोग पौराणिक दृष्टि से मान सकते हैं कि इतनी बड़ी आयु हो सकती है, वे विश्वास कर लें। परन्तु अगर आंध्यात्मिक सन्दर्भ में देखें, तो बात बड़े पते की है। एक तो इसमें बड़ी अनोखी बात जुड़ी हुई है कि इसी मय-दानव ने त्रेतायुग में रावण की सभा को बनाया और द्वापरयुग में युधिष्ठिर की सभा का भी

निर्माण किया। रावण पापी है और युधिष्ठिर बड़े धर्मात्मा हैं। अब यह मयदानव बड़ा विचित्र है। यह पापी की भी सभा को सजाता है और धर्मात्मा की भी। यह मयदानव है कौन? गोस्वामीजी इसका उत्तर विनय-पत्रिका में देते हैं। उन्होंने कहा – भाई, यह मयदानव तो अनादि काल से अनन्त काल तक सृष्टि में बना रहता है। केवल त्रेता-द्वापर की कौन कहे, सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग और इन युगों के बाद भी जो कभी न मिटने वाला जो यह मन है, यही तो वह मयदानव है। विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी ने लिखा – शरीररूपी ब्रह्माण्ड में प्रवृत्ति ही लंका का किला है, जिसे मनरूपी मयदानव ने बनाया है –

वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित मन दनुज मय-रूपधारी।

जीव का मन ही मयदानव है। यह बड़े पते की बात है। यही मन पाप की और यही पुण्य की भी सृष्टि करता है। यही रावण की और यही युधिष्ठिर की सभा को भी सजाता है। यह सब मन का ही तो खेल है। यह मन ही पौराणिक ग्रन्थों का मयदानव है। इसका मनोविज्ञान भी बड़ा सांकेतिक है। इसने ऐसे दो कार्य किए, जिससे इसका स्वभाव प्रगट होता है – एक तो इसने अपनी बेटी का विवाह रावण से किया, गोस्वामीजी ने वहाँ एक बड़ा मधुर व्यंग्य किया है। उन्होंने कहा कि अगर मय ने अपनी बेटी का विवाह विभीषण से कर दिया होता, तो धन्य हो जाता। यही ठीक था, ऐसा ही होना चाहिए था और बाद में हुआ भी यही। वस्तुतः मन्दोदरी को विभीषण की ही पत्नी होना चाहिए था। पर विभीषण की योग्यता जानते हुए भी मयदानव ने अपनी पुत्री का विवाह रावण के साथ ही किया। ऐसा क्यों किया? उसका सीधा-सा तर्क है – लंका का राजा विभीषण नहीं, रावण बनेगा; जो राजा बनेगा, उसी से हम अपनी बेटी का विवाह करेंगे। गोस्वामीजी ने लिखा –

मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥
सोइ मयँ दीन्हि रावनहि आनी। होइहि जातुधानपति जानी॥ १/१७८/२-३

उसे यदि पता होता कि अन्त में विभीषण ही राजा बनेगा, तो वह ऐसी भूल न करता। मन जब अपनी वृत्तियाँ मोह को अर्पित करता है, तब यदि उसे ठीक ठीक भान हो जाय कि अन्त में ईश्वर ही हमारे जीवन पर राज्य करेंगे, ईश्वर ही जीवन की सर्वश्रेष्ठ वस्तु हैं, तो वह इन वृत्तियों को मोह की सेवा में अर्पित न करता। लेकिन हमारे मन की वृत्ति तो यही देखती है कि इस समय सिंहासन पर कौन बैठा हुआ है, सत्ता और वैभव किसके पास है, बस वही योग्य है और वह वहीं समर्पण कर देता है, उसी की सेवा में लग जाता है। द्वापर युग में युधिष्ठिर राजा बने तो मयदानव ने उनका भवन सजा दिया और त्रेतायुग में देखा कि सबसे बड़ा रावण ही दीख रहा है, तो इसका नगर सजा दिया और उसे अपनी बेटी भी दे दी।

मन्दोदरी का विवाह रावण से हो गया। रावण हर्षित हो गया। व्यक्ति हर्षित कब होता है? सीधी-सी बात है, जब कोई बात हमारे मन के अनुकूल हो जाय, भोग्य वस्तु मिल जाय, तब हमें हर्ष होता है। और विषाद कब होता है? रावण का विषाद है कि अक्षय कुमार मारा गया। कितनी बढ़िया बात है! यह केवल रावण की दशा नहीं है, संसार में जितने भी मोहग्रस्त जीव हैं, सबकी यही दशा है। किसी की मृत्यु पर हमें शोक क्यों होता है? इसलिए कि हम रावण के समान उसे अक्षय कुमार मान बैठे हैं। अगर हम उसे क्षय कुमार मानते, तब तो कोई बात नहीं थी। कबीरदासजी से किसी ने बड़े आश्चर्य से कहा

– महाराज, आज अमुक की मृत्यु हो गई। उन्होंने कहा – इसमें आश्चर्य की क्या बात? आश्चर्य तो तब होता, जब कोई अनहोनी घट जाती। परन्तु जो घटना नित्य हो रही है, इसमें भला आश्चर्य कैसा? वे बोले – अच्छा, मान लो एक पिंजड़ा है, जिसके सारे द्वार खुले हुए हैं; उसमें जो पक्षी था वह उड़ गया, अब कोई आश्चर्य करे कि पक्षी कैसे उड़ गया, उसे तो नासमझ ही कहा जायगा। आश्चर्य तो यही है कि इतने दिनों तक वह पिजड़े में रहा कैसे! उड़ जाना तो स्वाभाविक ही है। वे शरीर के बारे में कहते हैं –

दस द्वारे का पिंजरा ता में पंछी पौन। रहने का अचरज बड़ा गये अचंभा कौन॥

अरे भाई, यह जो इतने दिन व्यक्ति जीवित रहता है, यही अपने आप में चमत्कार है, चला गया तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है! सृष्टि तो परिवर्तनशील तथा नाशवान है, मनुष्य मरणशील है, आश्चर्य तो यह है कि हम इसे नित्य मानते हैं। यक्ष ने जब महाराज युधिष्ठिर से पूछा कि 'आश्चर्य क्या है', तो उन्होंने यही उत्तर तो दिया था। उन्होंने आश्चर्य मृत्यु को नहीं बताया। वे बोले – विचित्र तो यह है कि मनुष्य जिस बात को नित्य देखता है, उसे देखकर आश्चर्य करता है। आश्चर्य तो उस पर होना चाहिए, जो कभी देखने को न मिलती हो। परन्तु जिसे हम नित्य देखें उसे भी कहें कि बड़ा आश्चर्य है, तो शायद हम अपने में ही विरोधाभास देखते हैं।

तो अक्षय कुमार के मारे जाने से रावण को विषाद हो रहा है। अरे, वह अक्षय कुमार नहीं था। नाम रखने मात्र से कोई अक्षय नहीं हो जायगा। अभिप्राय यह है कि मोहग्रस्त व्यक्ति अपने प्रिय नश्वर वस्तुओं को भी ममता के कारण अक्षय मान लेता है। बेटे के प्रति उसकी आसक्ति है और उस बेटे का अक्षय कुमार नाम रखकर वह संतोष किए हुए है कि संसार में सब मरेंगे, परन्तु मेरा बेटा नहीं मरेगा। यही उसका भ्रम है। अब हनुमानजी कौन हैं? हनुमानजी साक्षात् शंकर के अवतार हैं। शंकरजी की भूमिका तो आप जानते हैं –

करालं महाकाल-कालं कृपालम्॥ ७/१०७/४

महाकाल के सामने अक्षय कुमार आ जाए, तो बिचारा कहाँ टिकनेवाला है? हनुमानजी ने अशोक वाटिका से एक वृक्ष उखाड़ा और अक्षय कुमार पर पटक दिया। उस वृक्ष की चोट से अक्षय कुमार मर गया। रावण ने पूछा – मेरे बेटे अक्षय को तुमने क्यों मारा? हनुमानजी बोले – तुम्हारे बेटे अक्षय को मैंने थोड़े ही मारा! – तब? – तुम्हारे अशोक वाटिका के वृक्ष ने ही तुम्हारे अक्षय को मार डाला, मैं क्या करूँ! वृक्ष भी तुमने पाला और बेटा भी तुम्हीं ने पाला। अब एक ने दूसरे को मिटा दिया तो मैं क्या करूँ? यह वृक्ष के द्वारा मार देने का अभिप्राय क्या है –

संसार-कांतार अति घोर, गंभीर, घन, गहन तरु-कर्मसंकुल, मुरारी। (वि.प.५९)

वृक्ष कर्म का प्रतीक है। यदि कोई काल को दोष दे कि तुमने क्यों मारा, तो काल कहेगा कि मैं नहीं, बल्कि तुम्हारे कर्म ही तुम्हें मारते हैं। कर्म के द्वारा ही सृष्टि संचालित हो रही है। इस प्रकार रावण के अन्तःकरण में हर्ष और विषाद है, वही प्रत्येक मोहग्रस्त जीव की स्थिति है। परन्तु वस्तुतः होनी कैसी चाहिए, आगे हम इसी पर चर्चा करेंगे।

□(क्रमशः)□

माँ के सान्निध्य में (५१)

अज्ञात

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी के प्रेरणादायी उपदेशों का मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद अनेक वर्षों से विवेक-ज्योति में प्रकाशित हो रहे हैं। इस बीच अब तक प्रकाशित अंश 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत है उसी के प्रथम भाग से आगे के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद। – सं.)

एक अन्य समय अपने अंचल के कई गुरुभाई एक साथ जयरामबाटी गये थे। वहाँ जाकर मुझे ऐसा बोध हो रहा था, "इतने दूर दौड़ा आया हूँ। जीवन में कुछ कर तो नहीं सका। यदि श्रीमाँ की सेवा कर पाता, तो स्वयं को धन्य मानता।" एक दिन सभी गुरुभाई कामारपुकुर गये, परन्तु मैं नहीं गया। अपराह्न में माँ के पास गया था। वे (नये मकान के) भण्डार-घर के बरामदे मैं बैठी थीं। मुझे देखकर वे बोलीं, "बेटा, भण्डार से आटे की हण्डी ले आओ तो।" मैंने जाकर ला दिया। उन्होंने थोड़ा-सा आटा निकालकर पानी में भिगोया और उसे गूँधने को कहा। आटा गूँधने के बाद मैं बाहर के कमरे में आया। शाम को फिर माँ के पास गया। उस समय माँ अपने कमरे के बरामदे में विश्राम कर रही थीं। मैं वहाँ बैठा था। थोड़ी देर बाद माँ बोलीं, "बैकुण्ठ, पाँवों को थोड़ा दबा दो तो, बेटा।" मैं पाँव दबा रहा था, तभी माँ ने पूछा, "बच्चे कामारपुकुर से अभी तक लौटे क्यों नहीं? कहीं रास्ता आदि तो नहीं भूल गये?" इतना कहकर वे अत्यन्त उद्विग्न हो उठीं। उन्होंने ब्रह्मचारी ज्ञान को बुलाकर कहा, "ज्ञान, थोड़ा देखो तो, उन लोगों को इतनी देरी क्यों हो रही है?" ब्रह्मचारी ज्ञान देखने के लिए थोड़ी दूर आगे तक गये। सचमुच ही उस दिन वे लोग रास्ता भूल गये थे। खोज न करने पर उन लोगों को लौटने में और भी देरी होती।

रात को हम सभी माँ के कमरे के बरामदे में सोये थे। भोर में चार बजे हम सभी की नींद खुली। एक ने कहा, "इस सन्धिक्षण में यदि एक बार माँ का दर्शन मिल जाता!" इतना कहकर वे एक भजन गाने लगे, "(भावार्थ) उठो हे करुणामयी, खोलो अपनी कुटिया का द्वार" आदि। भजन समाप्त होते ही मैंने देखा कि माँ बाहर का दरवाजा खोलकर खड़ी हैं। हम लोगों ने सहसा उनका दर्शन पाकर महा आनन्दपूर्वक एक एक कर उन्हें प्रणाम किया। माँ द्वार बन्द करके फिर अन्दर चली गयीं।

एक अन्य समय वासन्ती पूजा के दिनों में हम कुछ लोग एक साथ जयरामबाटी गये थे। मार्ग में सफेद कमल के फूल देखकर हम लोगों ने उसमें से कुछ तोड़ लिए थे। हम लोग जब उन फूलों से श्रीमाँ के चरणों में अंजली देने की तैयारी कर रहे थे, तभी माँ ने कहला भेजा, "देवी की पूजा में सफेद फूल नहीं लगते।" यह समचार पाकर हम लोगों ने फिर से लाल कमल एकत्र करके उनके चरणों में अंजली प्रदान की थी।

एक दिन उनकी गृहस्थी से जुड़े किसी विषय में सुना – माँ मानो किसी से कह रही हैं, "मुझे ज्यादा मत जला, क्योंकि यदि मैं नाराज होकर किसी को कुछ कह डालूँ, तो किसी में सामर्थ्य नहीं कि उसकी रक्षा कर सके।"

उस बार मैंने पूछा था, "माँ, आजकल सरकार जो लड़कों को पकड़ कर जेल में रख देती है, इसका परिणाम क्या होगा?" उत्तर में माँ ने कहा था, "हाँ, यह तो बड़ा अन्याय है। शीघ्र ही इसका फल मिलेगा। ज्यादा दिन नहीं लगेंगे – सब ठीक हो जायेगा।"

एक दिन मैंने माँ से कहा, "माँ, मेरे लिए थोड़ा कुछ कर दीजिए।" माँ बोलीं, "शरत, राखाल – ये लोग तो हैं ही। भय की क्या बात है?" मैंने कहा, "माँ, मेरी बड़ी इच्छा है कि कुछ दिन जाकर (बेलूड़) मठ में रहूँ।" माँ इस पर सहमत नहीं हुईं। वे बोलीं, "अभी मठ जाने की जरूरत नहीं, घर में ही रहो।"

उस बार श्रीमाँ ने हमारे गाँव के खिरोद मुखोपाध्याय पर कृपा की थी। खिरोद बाबू के मुख से सुना है कि दीक्षा के समय माँ ने उनसे कहा था, "आज से तुम्हारे इस जन्म तथा पिछले जन्मों के पाप चले गये।"

एक दिन कलकत्ते के बागबाजार में स्थित माँ के घर (उद्‌बोधन) में श्रीमाँ को प्रणाम करके खड़ा था। माँ ने पूछा, "क्या तुमने मास्टर महाशय (श्री'म') को प्रणाम किया है?"

मैंने कहा, "नहीं माँ, मैं उन्हें नहीं पहचानता।"

माँ बोलीं, "जाओ, वह नीचे है। वह महापुरुष आदमी है, उसे प्रणाम कर आओ।" इतना कहने के बाद उन्होंने मास्टर महाशय से पहचान कराने को उन्होंने गालाप-माँ को मेरे साथ भेजा। मैं नीचे जाकर मास्टर महाशय को प्रणाम करने के बाद फिर ऊपर गया। उस समय दो लोग माँ को प्रणाम करके नीचे जा रहे थे। माँ मन्दिर में अपने तख्त पर बैठी, स्वगत में बोल रही थीं, "जो-सो पाँव छूकर बड़ी पीड़ा देता है!"

एक बार किसी सांसारिक विषय को लेकर अपने मँझले भैया के साथ मेरा झगड़ा हो जाने से, मैं कुछ दिनों के लिए घर छोड़कर कहीं अन्यत्र रहने की इच्छा हुई। इस बारे में श्रीमाँ को सूचित करके उनकी अनुमति लेने मैं बागबाजार गया था। मैं उन्हें प्रणाम करके खड़ा था। माँ ने गोलाप-माँ से कहा, "ओ गोलाप, सुना तुमने, बैकुण्ठ को उसके भैया एक थप्पड़ लगा दिया है, इसलिए वह इतनी दूर दौड़ा आया है! गृहस्थी करने से क्या झगड़ा नहीं होता? उसके लिए इतना सब करने की क्या आवश्यकता?" फिर वे मुझसे बोलीं, "जाओ बेटा, घर लौट जाओ। घर में रहने से थोड़ा-बहुत झगड़ा तो होगा ही।"

मेरे एक गुरुभाई ने ठाकुर का गायत्री-मंत्र भूल जाने पर मुझसे वह मंत्र जानना चाहा। इस पर मैने माँ को पत्र लिखकर पूछा, "मंत्र किसी को बताया जा सकता है क्या?" माँ तब मद्रास में थीं। उत्तर में माँ ने सूचित किया था, "मंत्र किसी के सामने नहीं बोलना चाहिए, तो भी अपने गुरुभाई को बता सकते हो। इसमें कोई दोष नहीं होगा।"

एक दिन दुखी मन से बागबाजार के 'उद्‌बोधन' भवन में जाकर मैंने श्रीमाँ से कहा था, "माँ, मैं आपसे कुछ कहने आया हूँ।"

माँ – क्या है, कहो।

मैं – माँ, क्या आपके इस अभागे पुत्र पर कृपा होगी?

माँ – बेटा, ठाकुर कृपा करेंगे, उन्हें पुकारो। और साथ ही सत्संग करो, साधन-भजन करो। ठाकुर को पुकारने से ही सब होगा।

मैं – वह करके भी तो, माँ, कुछ नहीं हुआ । जब मैंने ठाकुर को देखा ही नहीं, तो फिर उन्हें कैसे पुकारूँगा? आपकी कृपा मिली है । आप चाहे जो कहें, परन्तु अपने इस अभागे पुत्र के लिए आप ही उन्हें कहिए ।

माँ – जप-ध्यान किये बिना क्या कुछ होता है? वह सब तो करना पड़ता है ।

मैं – माँ, मेरी अब जप आदि करने की इच्छा नहीं होती । करके भी तो कुछ नहीं होता । काम-क्रोध-मोह – जैसे पहले थे, अब भी है । मन का मैल थोड़ा भी दूर नहीं हुआ ।

माँ – बेटा, मंत्रजप करते करते दूर होगा । नहीं करने से भला कैसे काम चलेगा? पागलपन मत करो । जब भी समय मिले, मंत्रजप करो । ठाकुर को पुकारो ।

मैं – नहीं माँ, मुझमें वह क्षमता नहीं है । जप करने बैठते ही तो मन चंचल हो उठता है । या तो मेरा मन तन्मय कर दीजिए कि उसमें जरा-सा भी बुरा विचार न आय, नहीं तो अपना मंत्र वापस ले लीजिए । व्यर्थ ही आपको कष्ट देने की मेरी इच्छा नहीं है । क्योंकि मैंने सुन रखा है कि शिष्य मंत्रजप न करे तो इससे गुरु को ही कष्ट उठाना पड़ता है ।

माँ – देखो, यह कैसी बात करते हो! तुम लोगों के लिए मैं निरन्तर सोचती रहती हूँ । ठाकुर ने तुम लोगों पर पहले ही दया कर दी है!

कहते समय माँ के नेत्र सजल हो उठे । वे आवेगपूर्वक बोलीं, "ठीक है, तुमको अब मंत्रजप नहीं करना होगा ।" अर्थात अब जो भी चाहिए, मेरे लिए वे स्वयं ही करेंगी ।

परन्तु उस समय उनकी बात का यह तात्पर्य न समझ पाकर भय और आतंक से मेरा सिर चकरा गया । मैंने सोचा – लगता है कि अब सारा सम्बन्ध समाप्त हो गया । आवेगपूर्ण हृदय के साथ मैं बोला, "माँ, आपने मेरा सब छीन लिया! अब मैं क्या करूँगा? तो माँ, क्या रसातल में चला जाऊँगा?"

यह सुनकर माँ खूब दृढ़ता के साथ बोलीं, "क्या कहा, मेरे पुत्र होकर तुम रसातल में जाओगे? यहाँ पर जो भी आया है, जो मेरे बच्चे हैं, उनकी मुक्ति हो चुकी समझो । ब्रह्मा में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं कि वह मेरे पुत्रों को रसातल में डाल सके ।"

मैं – परन्तु माँ, अब मैं क्या करूँगा?

माँ – मेरे ऊपर जिम्मेदारी सौंपकर निश्चिन्त रहो । और सर्वदा यह स्मरण रखना कि तुम्हारे पीछे कोई एक हैं, जो समय आने पर तुम लोगों को उस नित्यधाम ले जायेंगे ।

मैं – माँ, जब तक आपके पास रहता हूँ, तब तक बड़ी अच्छी तरह रहता हूँ । मुझे संसार की कोई चिन्ता नहीं रहती । और ज्योंही मैं घर जाता हूँ, त्योंही मन में तरह तरह के कुविचार आने लगते हैं । फिर से मैं अपने उन्हीं पुराने दुष्ट मित्रों के साथ मिलता-जुलता हूँ और गलत कार्य करता हूँ । चाहे जितना भी प्रयास क्यों न करूँ, मैं अपने कुविचारों को दूर नहीं कर पाता ।

माँ – यह तुम्हारे पूर्वजन्म के संस्कारों से हो रहा है । जोर लगाकर क्या इसे सहसा दूर किया जा सकता है? सत्संग में रहो, भले होने का प्रयास करो, क्रमश: सब हो जायेगा । ठाकुर को पुकारो । मैं भी हूँ । जान लेना कि तुम इस जन्म में मुक्त हो गये हो । भय की क्या बात? समय आने पर वे ही सब कुछ कर देंगे । □(क्रमशः)□

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (१०)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

११. वापसी के दौरान श्रीनगर में

व्यक्तिगण – स्वामी विवेकानन्द और यूरोपीय लोगों की एक टोली, जिसमें धीरा माता, जया तथा निवेदिता हैं।

स्थान – काश्मीर

समय – ९ से १३ अगस्त तक (१८९८ ई.)

९ अगस्त। इन दिनों आचार्यदेव बारम्बार हमसे विदा लेने की बातें कर रहे थे। अत: जब मैं अपनी डायरी में लिखा हुआ देखती हूँ, "रमता साधु बहता पानी, इसमें कभी न मैल लखानी"– तो मुझे उनके इस भावनात्मक उच्छ्वास का तात्पर्य समझ में आ जाता है, "जब मैं कठिनाइयों के बीच रहकर भिक्षा पर जीवन-निर्वाह करता हूँ, तभी मैं भलीभाँति रहता हूँ।" इसका तात्पर्य था – उनकी स्वाधीन रहने की आकांक्षा, आम लोगों से मिलने-जुलने का आग्रह, नि:सम्बल रहकर पैदल ही लम्बी यात्रा और वापस लौटने के लिए फिर आकर हमसे बारामुला में मिलना।

दो मौसमों के दौरान उनके साथ हिल-मिलकर स्वजनों के समान हो जानेवाले माझियों के परिवारों ने आज हमसे विदा ली। बाद में उन लोगों के साथ सम्बन्धरूपी इस पूरी घटना का इस सन्दर्भ में साक्ष्य के रूप में उपयोग करते हुए वे कहते कि प्रेम तथा धैर्य के मामले में भी कभी कभी कितना अतिरेक हो सकता है।

१० अगस्त। संध्या हो चुकी थी और हम कुछ लोगों से मिलने गये थे। लौटते समय उन्होंने अपनी शिष्या निवेदिता को खेतों के बीच से होकर टहलने के लिये बुलाया। उस दिन वे अपने कार्य तथा उससे सम्बन्धित अपने विचारों के बारे में ही बातें करते रहे। उस दिन उन्होंने देश तथा इसके धर्मों की समन्वयवादी धारणा पर बोलते हुए बताया कि हिन्दूधर्म को एक उद्यमशील, सक्रिय तथा प्रचारक मत में परिणत करने की आकांक्षा ही उनका वैशिष्ट्य है और एकमात्र छूआछूतवाद से ही उनका विरोध है। इसके बाद वे बड़ी भावुकता के साथ अनेक पुरातनपन्थी लोगों की उच्च आध्यात्मिक अवस्था के बारे में बोले। भारत को व्यावहारिकता की आवश्यकता है, परन्तु इसके लिए उसे अपने पुराने ध्यानशील जीवन का कदापि त्याग नहीं कर देना चाहिए। "समुद्र के समान गहन और आकाश के समान उदार बनो" – श्रीरामकृष्ण की यह उक्ति ही उनके लिए आदर्श थी। परन्तु पुरातनपन्थी की निष्ठा के आवरण में रक्षित आत्मा में इस गहन आन्तरिक जीवन का विकास, किसी मूलभूत नहीं बल्कि एक आकस्मिक सम्बन्ध का फल है। "और यदि हम

इसमें अपने को ठीक कर लें, तो दुनिया भी ठीक हो जायेगी, क्योंकि क्या हम सब एक ही नहीं हैं? रामकृष्ण परमहंस अपने अस्तित्व की गहराइयों के प्रति सचेत थे, तथापि बाहरी तौर पर वे पूर्णत: सक्रिय तथा सक्षम थे।''

इसके बाद वे अपने गुरुदेव की पूजा के उस जटिल प्रश्न पर बोले, ''उस महान जीवन के उत्साह से ही मेरा जीवन परिचालित हुआ है, परन्तु अन्य लोगों को यह स्वयं ही निश्चित करना होगा कि यह उनके मामले में कितना सत्य है। प्रेरणा केवल एक ही व्यक्ति के द्वारा जगत में प्रसारित नहीं होती।''

११ अगस्त। आज हमारी टोली के सदस्य के हस्तरेखा विज्ञान का प्रयोग करने पर स्वामीजी द्वारा उसे डाँटने का अवसर आया। उन्होंने बताया कि यह एक ऐसी चीज है, जिसे सभी लोग चाहते हैं, तथापि पूरे भारत में इसे हेय तथा घृण्य समझा जाता है। एक जन के कुछ खास युक्ति के उत्तर में उन्होंने यह बताते हुए कि चेहरा देखकर चरित्र पढ़ने का भी वे समर्थन नहीं करते। वे बोले, ''सच कहूँ, तो यदि तुम्हारे अवतार तथा उनके शिष्यों ने चमत्कार नहीं दिखाये होते, तो मैं उन्हें कहीं अधिक सच्चा समझता। बुद्ध ने इसी कारण से एक भिक्षु को संघ से बहिष्कृत कर दिया था।'' इस समय जिस विषय ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया था, उसी पर बाद में उन्होंने आतंक का भाव दिखाते हुए कहा था कि इसकी जरा-सी भी अभिव्यक्ति से निश्चित रूप से भीषण प्रतिक्रिया आयेगी।

१२ तथा १३ अगस्त। स्वामीजी ने अब एक ब्राह्मण रसोइया रख लिया है। उनके एक मुसलमान रसोइये को अपना भोजन बनाने की अनुमति देने पर इसके विरुद्ध अमरनाथ के साधुओं की युक्ति बड़ी भावनापूर्ण थी, ''स्वामीजी, कम-से-कम सिक्खों के देश में तो ऐसा मत कीजिए।'' और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया था। परन्तु उसी काल में वे अपने मुसलमान माझी की छोटी कन्या का उमा के रूप में पूजन कर रहे थे। उस छोटी-सी बच्ची के लिए प्रेम का अर्थ था सेवा और जिस दिन वे काश्मीर से विदा हुए, उस दिन वह सेव की एक टोकरी पूरे रास्ते उठाकर टाँगे तक ले आयी थी। वैसे उस समय वे उसके प्रति पूर्णत: उदासीन-से लगे, तथापि वे उसे कभी भूले नहीं। काश्मीर में ही वे याद किया करते थे कि कैसे उसने नौका खींचने के मार्ग में एक नीला फूल देखा और उसके सामने बैठकर उसे इधर उधर हिलाते हुए ''बीस मिनट तक उस फूल के साथ अकेली ही खेलती रही।''

नदी के तट पर एक भूखण्ड था, जहाँ तीन चिनार के वृक्ष उगे हुए थे और विशेष प्रेम के साथ अब हम उसी के बारे में सोच रहे थे। क्योंकि काश्मीर के महाराजा उसे स्वामीजी को देने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे और हम सभी उसे कार्य के भावी केन्द्र के रूप में कल्पना कर रहे थे – वह कार्य, जो ''लोगों के द्वारा, लोगों के लिए, सेवक तथा सेव्य दोनों के आनन्द हेतु'' – के महान भाव को रूपायित करनेवाला था।

महिलाओं द्वारा गृहप्रवेश की मंगलमय भारतीय प्रथा के परिप्रेक्ष्य में किसी ने सुझाव दिया कि हम कुछ काल के लिए वहाँ शिविर लगाकर उस पर कब्जा जमा लें। हमारी टोली के एक जन को उस समय विशेष शान्ति की इच्छा थी। अत: ऐसा निश्चित हुआ कि स्वामीजी को सौंपने के लिए महाराजा को उस भूमि की आवश्यकता होने के पूर्व ही हम वहाँ जाकर 'स्त्री-मठ' जैसा कुछ स्थापित करें। और वह छोटा-सा स्थान यूरोपीय लोगों की छावनी डालने के लिए निर्धारित होने के कारण ऐसा करना सम्भव भी था।

१२. चिनार-वृक्षों की छाया में

व्यक्ति – पूर्वोक्त
स्थान – श्रीनगर (काश्मीर)
समय – १४ से २० अगस्त तक (१८९८ ई.)

१४ अगस्त । स्वामीजी को रविवार की सुबह तथा अगले दिन अपराह्न में हमारे साथ चाय पीने आने को राजी कर लिया गया था । इसका उद्देश्य था वेदान्त में रुचि लेते से प्रतीत होनेवाले उन यूरोपीय सज्जन से उन्हें मिलाना । इस विषय में स्वामीजी को कोई उत्साह नहीं था और लगता है कि इसे स्वीकार करने के पीछे उनका वास्तविक उद्देश्य अपने अति आग्रही शिष्याओं के समक्ष ऐसे प्रयासों की पूर्ण निरर्थकता ही प्रदर्शित करना था । वैसे तो उन्होंने उस जिज्ञासु को सन्तुष्ट करने के प्रयास में काफी कष्ट स्वीकार किया और उनका यह प्रयास निश्चित रूप से निरर्थक सिद्ध हुआ । मुझे स्मरण आता है कि अन्य बातों के अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा था, "मेरी कितनी इच्छा होती है कि एक नियम को तोड़ा जा सके । यदि हम सचमुच ही एक भी नियम को तोड़ सके, तो मुक्त हो जायेंगे । जिसे तुम लोग नियम को तोड़ना कहते हो, वह वस्तुत: उसी की रक्षा का एक अन्य उपाय है ।" इसके बाद उन्होंने समाधि अवस्था को थोड़ा समझाने का प्रयास किया, परन्तु उनके शब्द ऐसे कानों पर पड़े, जो उन्हें सुनने में असमर्थ थे ।

१६ अगस्त । मंगलवार को दोपहर के भोजन के समय वे हमारे छोटे-से तम्बू में फिर आये । भोजन के अन्त में इतने जोर की बारिश होने लगी कि वे लौट नहीं सके । उन्होंने निकट ही पड़ा हुआ टॉड का लिखा 'राजस्थान का इतिहास' उठा लिया और मीराबाई के विषय में बातें करने लगे । उन्होंने कहा, "आधुनिक बंगाल के दो-तिहाई राष्ट्रीय विचार इसी ग्रन्थ से एकत्रित किये गये हैं ।" परन्तु टॉड के ग्रन्थ में भी मीराबाई ही उनकी विशेष प्रिय थीं, जिन्होंने रानी होकर भी सब कुछ छोड़कर कृष्ण-भक्तों के साथ दुनिया में भ्रमण करना ही पसन्द किया । स्वामीजी ने बताया कि किस प्रकार उन्होंने 'शरणागति, प्रार्थना तथा सर्वजीवों की सेवा' का उपदेश दिया है, जो कि चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित 'भगवन्नाम में रुचि, जीवों पर दया तथा भक्तगण की सेवा' के साथ तुलनीय है । मीराबाई सदैव ही उनकी एक महान समर्थक थीं । मीराबाई की कथा के साथ स्वामीजी अन्य सन्दर्भों में सुपरिचित अन्य अनेक सूत्र भी जोड़ देते थे; यथा दो महान डाकुओं का वार्तालाप और उनके अन्तिम समय में श्रीकृष्ण की एक प्रतिमा का खुलकर उन्हें ग्रहण कर लेना । एक बार मैंने उन्हें एक महिला के समक्ष मीरा के एक भजन की आवृत्ति करके उसका अनुवाद करते सुना था । क्या ही अच्छा होता यदि मैं उसे पूरा स्मरण रख पाती! अस्तु, उसका अनुवाद इन शब्दों में आरम्भ हुआ था – "हरि से लागि रहो रे, भाई ।" और अन्त में था – "अंका तारे बंका तारे तारे सुजन कसाई, सुआ पढ़ावत गणिका तारे तारे मीराबाई ।"[१]

---

१. पूरा भजन इस प्रकार है —

हरि से लागि रहो रे भाई । तेरि बनत बनत बनि जाई ।
अंका तारे बंका तारे, तारे सुजन कसाई ।
सुआ पढ़ावत गणिका तारे, तारे मीराबाई ।
दौलत दुनिया माल खजाना, बलिया बैल चराई । (अगले पृष्ट पर जारी)

फिर मैंने उनसे मीराबाई के जीवन की वह अद्भुत कहानी भी सुनी थी, जिसमें वृन्दावन पहुँचने पर उन्होंने वहाँ के एक प्रसिद्ध साधु[२] को बुलावा भेजा था। परन्तु उन्होंने इस आधार पर जाने से इन्कार कर दिया कि वृन्दावन में महिलाएँ पुरुषों को नहीं देख सकतीं। ऐसा तीन बार होने पर मीराबाई स्वयं ही यह कहते हुए उनके पास आ पहुँची, "मैं नहीं जानती थी कि वृन्दावन में पुरुष भी हैं, मैं तो सोचती थी कि यहाँ केवल कृष्ण ही विराजमान हैं।" वहाँ जाकर आश्चर्यचकित साधु को देखने के बाद वे अपना परदा पूरी तौर से हटाते हुए बोलीं, "मूर्ख, क्या तू अपने को पुरुष कहता है?" और जब उन साधु ने विस्मय-विमुग्ध होकर मीराबाई को प्रणाम किया, तो उन्होंने एक माता के समान उन्हें आशीर्वाद प्रदान किया।

इसके बाद स्वामीजी अकबर के बारे में बातें करने लगे और सम्राट् के राजकवि तानसेन द्वारा रचित एक गीत सुनाया –

शुभ थी वह घड़ी, वह पल और वह मुहुर्त; जब तुम सिंहासन पर बैठे,
हे दिल्लीपति, मनुष्यों में देवता ! तुम्हारा ताज, तुम्हारी सत्ता, तुम्हारा तख्त
युग युग तक बना रहे, हे दिल्लीपति, मनुष्यों में देवता !
हे हुमायूँ के पुत्र, तुम युग युग जीयो; और सदा जाग्रत रहो,
सूर्य के आनन्द, हे दिल्लीपति, मनुष्यों में देवता !![३]

इसके बाद वे 'हमारे राष्ट्रीय वीर' प्रताप सिंह पर बोलने लगे, जिन्होंने कभी अधीनता स्वीकार नहीं की। हाँ, एक बार पल भर के लिए जरूर उनके मन में झुक जाने का लोभ आया था। जब वे चितौड़ से पलायन कर गये थे और वन के भीतर रानी ने रात के लिए थोड़ा-सा कुछ खाना बनाया; तभी एक जंगली बिल्ली बच्चों के हिस्से की रोटी झपट ले गयी और मेवाड़नरेश ने भूख से पीड़ित अपने बच्चों का क्रन्दन सुना। उस समय अवश्य ही उस बहादुर का हृदय जवाब दे गया था। शान्ति व स्वाच्छन्द्य की सम्भावना ने उन्हें प्रलोभित किया। क्षण भर के लिए उनके मन में इस असमान युद्ध को बन्द करके अकबर के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित करने का विचार कौंधा, परन्तु वह केवल क्षण भर के लिए ही था। परमेश्वर अपने जनों की रक्षा किया करते हैं। उनके मन से वह कल्पना अभी गुजरी ही थी कि एक प्रसिद्ध राजपूत सरदार द्वारा भेजी हुई रसद के साथ उन्हें सन्देश दिया, "हमारे बीच केवल एक ही ऐसा बचा हुआ है, जो अपना रक्त विधर्मियों के साथ मिश्रित

एक बात का टण्टा पड़े तो, खोज खबर न पाई।
ऐसी भक्ति करो घट भीतर, छोड़ कपट चतुराई।
सेवा बन्दी औ' अधीनता, सहज मिलें रघुराई।

२. सनातन गोस्वामी, जो चैतन्यदेव के संन्यासी शिष्य थे और धार्मिक जीवन अंगीकार करने के लिए उन्होंने बंगाल प्रान्त के तत्कालीन नवाब का मंत्री-पद त्याग दिया था।

३. स्वामीजी ने तानसेन का जो गीत गाया था, उसका ठीक पता नहीं चल सका है। एक गीत जिसके भाव उपरोक्त गीत के साथ मेल खाते हैं, जो सम्भव है उसी का आंशिक रूप हो, इस प्रकार है –

(सोहनी – विलम्बित चौताल)

छत्रपति अकबर चिरंजीव ज़ग में रहो, जौ लौं धरणी ध्रुव तारा छत्रपति।
शुभ घरि शुभ मुहूरत, अनन्त जीवो, आनन्द भर सुख पावो छत्रपति॥
(भातखण्डे कृत क्रमिक पुस्तकमाला, भाग-३, पृ. ४३८)

होने से बचा सका है। भविष्य में कोई ऐसा न कहे कि उसके मस्तक ने भी धूल का स्पर्श किया है।" प्रताप की अन्तरात्मा ने साहस तथा नये विश्वास की लम्बी सांस ली। वे उठकर देश के शत्रुओं का नाश करते हुए वापस उदयपुर जा पहुँचे।

इसके बाद उन्होंने उस कुँआरी राजकन्या कृष्णकुमारी की कथा सुनायी। कई राजा उसका पाणिग्रहण करने को इच्छुक थे। और जब तीन सेनाएँ उसके द्वार पर आ पहुँचीं, तो उसके पिता ने आसन्न रक्तपात को टालने का अन्य कोई उपाय न देख कन्या को विष देने विचार किया। यह उत्तरदायित्व उसके चाचा को सौंपा गया था और जब वे इस कार्य को पूरा करने उसके कमरे में गये, तो वह निद्रामग्न थी। उसकी सुन्दरता तथा यौवन देखकर और उसकी बचपन की स्मृतियाँ जाग उठने पर उस वीर का हृदय डाँवाडोल हो गया। वे अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर सके। परन्तु आहट सुनकर बालिका जाग गयी और जब उसे इस निर्णय से अवगत कराया गया, तो उसने हाथ बढ़ाकर कटोरी ले ली और हँसते हँसते विषपान कर लिया। इसी प्रकार की हम और भी अनेक कथाएँ सुनते रहे, क्योंकि राजपूत वीरों की ऐसी असंख्य कथाएँ हैं।

२० अगस्त। शनिवार को स्वामीजी अमेरिकी वाणिज्य-दूत तथा उनकी पत्नी के निमंत्रण पर शुंग नामक व्यक्ति के साथ दो दिनों के लिए डल झील के किनारे गये। वे लोग सोमवार को लौटे। मंगलवार को स्वामीजी हमारे नये मठ में आये और अपनी नाव को उन्होंने हमारी नावों के समीप ही बँधवा दिया, ताकि गान्धारबल के लिए रवाना होने के पूर्व वे हमारे साथ कुछ दिन बिता सकें।

(ग्रन्थ के) सम्पादक का उपसंहार

गान्धारबल से स्वामीजी अक्तूबर के प्रथम सप्ताह में लौटे और किसी अत्यावश्यक कारण से कुछ दिनों के भीतर ही मैदानी अंचल में लौट जाने की मंशा व्यक्त की। यूरोपीय टोली ने पहले ही जाड़े का मौसम आरम्भ होने पर उत्तरी भारत के लाहौर, दिल्ली, आगरा आदि प्रमुख नगरों का भ्रमण करने की योजना बना ली थी। अत: दोनों टोलियों ने लौटने का निश्चय किया और एक साथ ही लाहौर तक आये। वहाँ से स्वामीजी तथा उनकी टोली कलकत्ते लौट गयी और बाकी लोग उत्तर भारत के भ्रमण की अपनी योजना के अनुसार वहीं रह गये।

□ (समाप्त) □
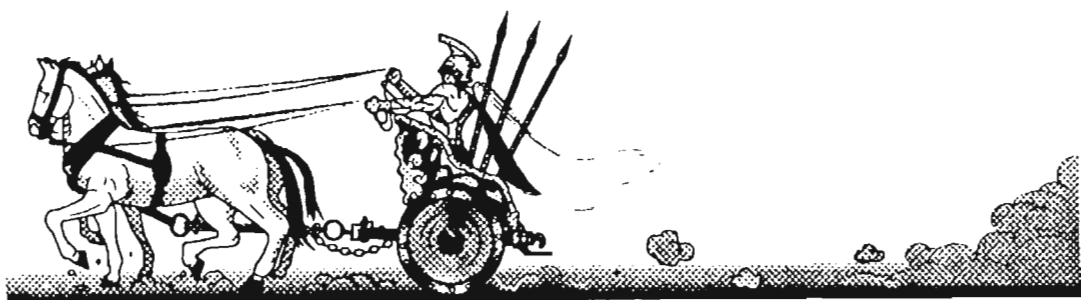
श्रीरामकृष्ण की जीवनगाथा

स्वामी प्रेमेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक अत्यन्त वरिष्ठ तथा सम्माननीय संन्यासी द्वारा सुललित बँगला भाषा में लिखित यह संक्षिप्त जीवनी अब से लगभग ८० वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। इसकी भूमिका में स्वामी सारदानन्द जी ने लिखा है, "लघुकाय होने पर भी वर्तमान ग्रन्थ पाठकों के समक्ष श्रीरामकृष्णदेव के अलौकिक जीवन का एक भावशुद्ध विशद चित्र प्रस्तुत करेगा।" मुख्यत: युवावर्ग के लिए इसकी उपादेयता को ध्यान में रखकर ही हम इसका अनुवाद क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

तृतीय अध्याय

अपूर्व पूजा और अद्भुत दर्शन

प्रतिष्ठा के समय प्रत्येक देवी-देवता को एक नाम दिया जाता है। रानी रासमणि द्वारा प्रतिष्ठित माँ-काली का नाम भवतारिणी था। माँ भवतारिणी की सेवा में रामकृष्ण क्रमश: अत्यन्त तन्मय होने लगे। प्रात:काल फूल चुनकर वे अपने हाथ से माला गूँथते, स्नान के बाद पूजा में लग जाते और पूजा समाप्त हो जाने पर माँ को भजन सुनाते। रामप्रसाद, राजा रामकृष्ण आदि साधकों के मातृभावात्मक भजन गाते हुए वे भावोन्मत्त हो जाते, उनके कपोलों से होकर अविरल अश्रु बहते रहते। तीसरे प्रहर वे माँ को हवा करते अथवा माँ की प्रसन्नता के लिए किसी कार्य में लगे रहते। रात हो जाने पर वे प्रसाद ग्रहण करके लेट जाते, परन्तु कल किस प्रकार सेवा करके माँ को आनन्दित करेंगे, इसी चिन्ता में उन्हें नींद नहीं आती। इस प्रकार माँ के चिन्तन में ही उनके दिन-रात बीतने लगे।

दिन पर दिन उनकी तन्मयता क्रमश: इतनी बढ़ती गयी कि भजन गाने बैठने पर उनका भजन समाप्त ही नहीं होता था, माँ का चिन्तन करने बैठते ही वे गहरे ध्यान में डूब जाते, आरती करते तो फिर देर तक यंत्र के समान प्रदीप घुमाते ही रहते – प्रदीप बुझ जाता था, वादकगण थककर काँसे का घण्टा रख देते, परन्तु आरती समाप्त नहीं होती थी।

पाषाणमयी मूर्ति की सेवा तथा मन:कल्पित रूप का ध्यान करना अब रामकृष्ण को अच्छा नहीं लगा। माँ को साक्षात जीवन्त रूप में प्राप्त करने को उनके प्राण रो उठे। पहले वे लीलामग्न सदानन्द भाव में थे, पर अब उनमें एक उदासीन गम्भीरता आ गयी। सबने सोचा कि आयु बढ़ने के साथ ऐसा परिवर्तन तो आता ही है।

दक्षिणेश्वर में आजकल जिस स्थान पर पंचवटी है, उसके नीचे की जगह नीची और जलपूर्ण थी और उसमें आँवले का एक वृक्ष था। रामकृष्ण उन दिनों रात के समय उसी वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करते थे। पूजा, ध्यान और सेवा करते करते क्रमश: माँ का दर्शन पाने के लिए उनकी व्याकुलता काफ़ी बढ़ गयी। अब वे अपने मन के भाव

नियंत्रण में न रख सके। आहार-निद्रा भूलकर वे दिन-रात 'माँ, माँ' कहकर पुकारते हुए धूल में लोटने तथा रोने लगे। जैसे पुत्र के शोक में माता अधीर हो जाती है, वे उससे भी अधिक अधीर हो उठे। उनका रोना-पीटना सुनकर कोई भी अपने आँसू नहीं रोक पाता था, ऐसा लगता मानो सचमुच ही उनकी छाती जली जा रही है। क्रमश: जब उनके मन की ऐसी हालत हो गयी कि जगदम्बा को देखे बिना वे एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकेंगे, तब सम्पूर्ण लोकों को आलोकित करते हुए माँ ने उन्हें दर्शन दिया। रामकृष्ण ने देखा कि जगत का सारा रूप मानो एकत्र और घनीभूत होकर काली के रूप में व्यक्त हुआ है, उनके भ्रूक्षेप से जगत मानो कम्पायमान हो रहा है और वही दृष्टि मानो समस्त लोगों के हृदय के अन्तरतम प्रदेश तक स्पर्श किये हुए है। रामकृष्ण माँ का यह रूप देखते देखते अपने आपको भी भूल गये। दो-तीन दिन तक उन्हें बाह्य-जगत का बिल्कुल भी बोध न रहा।

हम लोग थोड़े-बहुत रूप और गुण के लोगों से प्रेम करके उनके विरह में दुख पाते हैं; और जो समस्त रूपों और गुणों के आधार हैं, उनका विरह तो न जाने कितना कष्टदायी होगा। जगदम्बा का केवल एक बार दर्शन पाने के बाद रामकृष्ण का मन उन्हीं में मग्न हो गया। ऐसा लगता था कि थोड़ी देर और माँ का दर्शन नहीं मिला तो उनके प्राण निकल जायेंगे। उनकी वह व्याकुलता एक अद्भुत चीज थी; गंगाजी के किनारे जहाँ-तहाँ धूल में पड़े वे 'माँ, माँ' कहकर आर्तनाद किया करते थे। उनके इस कष्ट की बात किसी भी प्रकार लोगों की समझ में नहीं आती थी; कोई सोचता कि उनके पेट में दर्द हो रहा है और कोई कहता कि ये पागल हो गये हैं। विरह की पीड़ा से कभी कभी पछाड़ खाकर गिर पड़ते और कभी कभी गंगा के किनारे कीचड़ में पड़े छटपटाते रहते। माँ को न देख पाने से उन्हें ऐसी पीड़ा होती। जब यह कष्ट सहनशीलता की सीमा को पार कर जाता, तभी जगदम्बा उन्हें दर्शन देकर तरह तरह से उन्हें सान्त्वना प्रदान करतीं। क्रमश: माँ उन्हें बारम्बार दर्शन देने लगीं और उन्हें समझा दिया कि वे कहीं दूर नहीं चली जातीं, बल्कि उनके हृदय तथा मन्दिर की मूर्ति में वे सर्वदा जीवन्त रूप से विराजती हैं। जैसे एक माँ अपने पुत्र के साथ आनन्द मनाती है, वैसे ही माँ भवतारिणी भी रामकृष्ण के साथ आनन्द करने लगीं।

अब से उनकी अधीरता-व्याकुलता दूर हुई और माँ भवतारिणी के प्रति उनका प्रेम एक नये रूप में अभिव्यक्त होने लगा। वे पाषाणमयी काली के साथ बातें करते, हँसी-विनोद करते, उन्हें नैवेद्य खिलाने जाते और माँ के बिस्तर पर ही लेट जाते। कभी वे माँ का नैवेद्य कौए या बिल्ली को खिला देते अथवा कभी स्वयं ही खाने लगते; फूल माँ के चरणों में न देकर अपने ही सिर पर रख लेते, या कभी चारों ओर बिखेर देते। मन्दिर के कर्मचारियों को यह सब बड़ा अनुचित लगा। परन्तु रामकृष्ण का भावोन्मत्त तेजस्वी रूप देखकर किसी ने भी उनसे कुछ कहने और यहाँ तक कि उनके निकट जाने का साहस नहीं किया। उन लोगों ने मथुरबाबू को सूचना भेजी कि रामकृष्ण पूरी तौर से पागल होकर काली मन्दिर में जो इच्छा वही कर रहे हैं; यदि उन्हें शीघ्रताशीघ्र मन्दिर से नहीं हटाया गया तो देवी उनके अनाचार पर रुष्ट हो जाएँगी।

मामा को कोई बीमारी हुई है, ऐसा सोचकर हृदय ने पहले तो उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की। परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। किसी प्रकार मन्दिर में माँ की पूजा को जारी रखते हुए उन्होंने मामा की नौकरी को बहाल रखने का प्रयास किया। परन्तु अन्ततः मामा के पागलपन को दबाकर रख पाना असम्भव हो गया। मथुरबाबू रामकृष्ण की अस्वस्थता की बात जानते थे और सोचते थे कि वह ठीक हो जाएगा। परन्तु जब उन्होंने सुना कि रामकृष्ण बिल्कुल ही पागल हो गये हैं, तब वे चिन्तित हुए और काली मन्दिर में आकर रामकृष्ण के क्रिया-कलाप का निरीक्षण करने लगे। मथुर को यह समझते देरी न लगी कि माँ काली कृपा करके रामकृष्ण के साथ सचमुच की माता के समान व्यवहार करती हैं। मथुर का हृदय भक्ति से परिपूर्ण हो उठा। वे रामकृष्ण को अपने इष्ट-देवता के तुल्य मानकर तदनुरूप आचरण करने लगे। मन्दिर के कर्मचारीगण यह उल्टी गंगा बहती देखकर विस्मित रह गये।

मथुरबाबू ने जब अतीव आनन्दपूर्वक रानी को यह संवाद दिया, तो वे भी रामकृष्ण के इस अपूर्व व्यवहार को देख आयीं। मन्दिर के कर्मचारियों ने सोचा कि रामकृष्ण ने कोई 'टोना-टोटका' करके मथुर को भुला लिया है, पर अब रानी आकर अवश्य ही उन्हें मन्दिर से निकाल बाहर करेंगी। सुना है कि जिस दिन यह समाचार आया कि रानी आनेवाली हैं उसी दिन मन्दिर के किसी कर्मचारी ने रामकृष्ण को भय दिखाते हुए कहा था रानी आते ही उन्हें मन्दिर से निकाल देंगी। यह सुनते ही वे बड़े डर गये और पाँच वर्ष के बालक के समान अपनी पहनने की धोती को बगल दबाये माँ काली का आँचल पकड़कर मूर्ति के पीछे रहे। रानी के आने पर और भी भयभीत होकर उन्होंने प्राणपण से आँचल को जकड़ लिया और भीत-चकित नेत्रों से मूर्ति के पीछे से बीच बीच में रानी की गतिविधि देखने लगे। यह दृश्य देखकर भक्तिमती रानी रोने लगीं। वे समझ गयीं कि माँ भवतारिणी को वास्तविक रूप से माँ के रूप में देखे बिना रामकृष्ण कभी ऐसा शिशुवत् आचरण नहीं कर सकते। इतना धन व्यय करके जगदम्बा की प्रतिष्ठा आज सार्थक हुआ, यह सोचकर उन्होंने अपने को धन्य माना। रानी को मथुर से भी अधिक मुग्ध होते देख मन्दिर के कर्मचारीगण किंकर्तव्यविमूढ़ रह गये।

अब से माँ भवतारिणी पत्थर की प्रतिमा मात्र न रह गईं और रामकृष्ण को अपना चिन्मय रूप दिखाकर उन्हें अपने लीला-रस में डुबा देने लगीं। रानी ने देखा कि अब उनके लिए मन्दिर में प्रचलित सारे नियमों को मानकर प्रतिदिन नियमित समय पर देवी भवतारिणी की पूजा, भोग, आरती तथा अन्य सेवा कार्य करना सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने हृदय को माँ काली की नित्य की पूजा में नियुक्त कर दिया। इसके बाद रानी रासमणि और मथुरबाबू जितने भी दिन जीवित रहे, प्राणपण से रामकृष्ण की सेवा करते रहे। मथुरबाबू के देहान्त के बाद उनके पुत्रों ने भी रामकृष्ण की सेवा में त्रुटि नहीं की।

□ (क्रमशः) □

दुःखों से मुक्ति

स्वामी सत्यरूपानन्द

हम देखते हैं कि मनुष्य प्रायः अपनी परिस्थिति को अनुकूल और सुखद बनाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। असन्तोषप्रद परिस्थितियों को बदलना चाहते हैं। किन्तु देखा यह जाता है कि अधिकांश व्यक्तियों का श्रम प्रायः व्यर्थ ही जाता है। उनकी शक्ति और समय का निरर्थक व्यय हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ?

ऐसा इसलिए होता है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों को तो बदलना और सुधारना चाहता है पर स्वयं अपने आपको बदलना और सुधारना नहीं चाहता। सच्चाई तो यह है कि स्वयं को सुधारने और बदलने की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। यही कारण है कि परिस्थितियों के बदलने पर भी उसे अपेक्षित सुख और सन्तोष नहीं मिल पाता। मनुष्य यह पाता है कि बदली हुई परिस्थितियाँ उसे थोड़े समय के लिए ही अनुकूल और सुखद प्रतीत होती हैं। कुछ ही दिनों पश्चात वे परिस्थितियाँ उसे अलोनी और अरुचिकर लगने लगती हैं तथा वह पुनः पहले के ही समान असन्तुष्ट एवं दुखी हो जाता है।

ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसीलिए होता है कि मनुष्य के दुख और असन्तोष का कारण बाहर नहीं है। उसके सुख अथवा दुख का कारण तो उसके भीतर ही है। मनुष्य की आन्तरिक परिस्थिति एवं उसके विचार के अनुसार ही बाहर की परिस्थितियाँ उसे सुखी अथवा दुखी बनाती हैं। मनुष्य जिस प्रकार के विचारों का पोषण करता है, उसका स्वभाव तथा चरित्र उसी के अनुरूप हो जाता है और हम सभी का यह अनुभव है कि मनुष्य के स्वभाव तथा चरित्र के अनुसार ही बाहर की परिस्थितियाँ उसे सुखी अथवा दुखी करती हैं। इसलिए जब तक मनुष्य अपने विचारों में आवश्यक परिवर्तन नहीं कर लेता, विचारों के परिवर्तन द्वारा अपने स्वभाव तथा चरित्र में परिवर्तन नहीं कर लेता तब तक बाहर की बदली हुई परिस्थितियाँ कितनी भी अनुकूल और सुखद क्यों न हों, उसे अधिक समय तक सुखी एवं सन्तुष्ट नहीं रख सकतीं।

मनुष्य के दुखों का मूल कारण उसके अपने भीतर उसके अपने विचारों में है। अतः आज यदि वह दुखी है तो उसे अपने दुख के कारणों को अपने भीतर ही ढूँढ़ना चाहिए। यदि मनुष्य निष्पक्ष होकर सच्चाई से अपने विचारों का निरीक्षण और विश्लेषण करे तो उसे अपने असन्तोष और दुख का कारण अवश्य ही मिल जाएगा। और एक बार दुखों का कारण पर मिल जाने पर मनुष्य अपने विचारों और भावनाओं में आवश्यक परिवर्तन कर दुख और असन्तोष से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य बाहर की परिस्थितियों की दासता से सदैव के लिए मुक्त हो सकता है। □

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

श्री रामकुमार गौड़
(आकाशवाणी, वाराणसी)

(रामचरितमानस के 'भये प्रगट कृपाला' के तर्ज पर गेय)

जय जय करुणाकर, बाल गदाधर, रामकृष्ण भगवाना।
अतिपावनचरितं, भक्तिभावितं, नहीं स्वल्प अभिमाना।
अग-जग के स्वामी, अन्तरजामी, नरतनु धरि जब आए।
निजशक्ति सारदा, शुभदा वरदा, रामचन्द्र घर लाए ॥१॥

जय परमविरागी, हरि अनुरागी, त्यागी कंचन-कामा।
भक्तन उरवासी, जय अविनाशी, परमहंस अभिरामा।
जय परम पुजारी, शुद्धाचारी, पूजक माँ जगदम्बा।
अति दीन विकलता, उर आतुरता, भयउ दरस अवलम्बा ॥२॥

जय अद्‌भुत योगी, हरिसुख भोगी, सदा कीर्तनानन्दा।
अवतारवरिष्ठा, अतुलित निष्ठा, दायक परमानन्दा।
जय शोकविनाशक, मतिमल नाशक, भासक सहजस्वरूपा।
दीजै प्रभु यह वरु, भक्त-कल्पतरु, मिलै भगति सुखरूपा ॥३॥

जय नित्यनिरंजन, जन-मनरंजन, भंजन भवभयभारी।
जय प्रेमस्वरूपा, दरस अनूपा, यतिमन-नन्दनकारी।
दायकविश्रामा, अस्त्रप्रणामा, जगहित जेहि उपदेशा।
सो मम उर अन्तर, बसहु निरंतर, परमहंस के वेषा ॥४॥

जय जय सुखसागर, सब गुनआगर, दुख-दुर्गुण अपहारी।
हरिभक्ति-प्रचारक, नतजन तारक, मानवता उपकारी।
जो शान्तस्वभावा, नामप्रभावा, कर सद्‌गुणविस्तारी।
सो करहु अनुग्रह, चिद्‌घनविग्रह, तापत्रय-भयहारी ॥५॥

तन सत्वप्रधाना, हरिगुनगाना, लीन रहै सब काला।
बहु बार समाधी, होइ अबाधी, अतिदुर्लभ कलिकाला।
मनमुख करि एका, भजन विवेका, जो सबही उपदेशा।
सो मम उर अंतर बसहु निरंतर, परमहंस के वेषा ॥६॥

प्रिय शिष्य नरेन्द्रा, हर मनुजेन्द्रा, भयउ विवेकानन्दा।
मण्डल सप्तरषी, का ब्रह्मरषी, सदा सच्चिदानन्दा।
गुरु आज्ञाकारी, रहि अविकारी, जगहित जो उपदेशा।
सो मम उर अंतर, बसहु निरंतर, करि संन्यासी-वेषा ॥७॥

उर में हरिध्याना, मुख गुनगाना, तन कीर्तन-उन्मत्ता।
मन योगारूढ़ा, हरिगुनगूढ़ा, भगवत् प्रेमोन्मत्ता।
लोचन हरिलीना, जिमि जलमीना, योगी जिमि भगवाना।
मुख हासविराजा, भक्तसमाजा, लोचन कर मधुपाना ॥८॥

मुख छवि अतिप्यारी, बनत निहारी, सारी उपमा हारी।
श्रुति नेति निरूपा, अकथ अनूपा, अनुभवगम्य विचारी।
सब इन्द्रियग्रामा, थिर अविरामा, ध्यानस्थित छवि न्यारी।
कविबुद्धि बिचारी, रूप निहारी, चरनन पर बलिहारी ॥९॥

बिनु ईश्वरज्ञाना, सब अज्ञाना, दुखमय सब जग जाना।
अस हृदय विचारी, भवभयहारी, विद्याहित प्रन ठाना।
तब हो गए अक्षर, जदपि निरक्षर, रामकृष्ण भगवाना।
सब शास्त्रपुराणा, वचनप्रमाणा, किए विगत अभिमाना ॥१०॥

जब लगि अभिमाना, ईश्वर-ज्ञाना, नहिं पावे संसारी।
नित हरिगुणगाना, तजि मदमाना, करि नर होय सुखारी।
जो अस उपदेशा, त्यागी वेषा, अघ-अवगुण-भ्रमहारी।
सो करहु अनुग्रह, चिद्घनविग्रह, तापत्रय-भयहारी ॥११॥

जग कंचनकामा, नहि विश्रामा, पावै कोउ यह लोका।
हरि भगति पावनी, शान्तिदायिनी, बेगि हरै सब शोका।
अस मन अनुमाना, हरिगुणगाना, लीन रहै जब प्रानी।
अंतरसुख भासै, मतिमल नासै, करि भवबन्धन हानी ॥१२॥

तव अनुपम चरिता, भक्तिसुसरिता, अवगाहै जग सारा।
पावै मणि-मोती, साधन-ज्योती,नहीं रहै पथहारा।
जो जगदुखरूपा, होइ सुखरूपा, रहै काट भवकारा।
नहिं दुख-लवलेसा, मिटै कलेसा, पाइ परमपद न्यारा ॥१३॥

जिमि घाट अनेका, पुष्कर एका, पथिक आइ बहुभाषी।
कहे अकवा, वाटर अथवा पानी, जल के सब अभिलाषी।
तिमि ईश्वर एका, नाम अनेका, अल्ला गॉड कहाहीं।
साधक बहुरूपा, रुचि अनुरूपा, प्रभु अनुभूति कराहीं ॥१४॥

स्वामी निर्वेदानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो १९४५ ई. में पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशन के बाद से अब तक शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है । 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है.। – सं.)

कैसे?

१२. तात्कालिक दृष्टिकोण

अब तक हमने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोषों तथा सुधारों पर चर्चा की । हमारे अनेक देशभक्त चिन्तकों ने इस प्रणाली में पहले से ही यथाशीघ्र सुधार की जरूरत महसूस की है और कुछ उपयुक्त संस्थाओं ने इस दिशा में कुछ कार्य आरम्भ भी कर दिया है । वस्तुत: कार्य की विराटता को देखते हुए, व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा उनके अपने बोध तथा संसाधनों के अनुसार ऐसे छिट-पुट प्रयास पर्याप्त नहीं हैं, वैसे हमें यह स्वीकार करना होगा कि ऐसा प्रत्येक प्रयास हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान का एक आशापूर्ण चिह्न है ।

जब तक सरकार द्वारा हमारी जनता की प्रतिभा तथा आवश्यकताओं के अनुरूप पूरे देश में एक स्वस्थ प्रणाली आरम्भ नहीं हो जाती, स्वेच्छासेवी संगठन इसे जारी रखें तथा इसका विस्तार करने का प्रयास करें । प्रत्येक संगठन को गम्भीरता से विचार करना होगा कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की गुणवत्ता बढ़ाने में वह कितना योगदान कर सकेगा । स्पष्ट है कि उनके पास उपलब्ध संसाधनों से उनमें से अधिकांश के लिए सही प्रकार की शिक्षा के विस्तार हेतु स्वाधीन विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा संचालन कठिन होगा ।

तथापि, वर्तमान समय में उनमें से प्रत्येक वर्तमान प्रणाली के ढाँचे में ही विभिन्न प्रकार के शैक्षणिक संस्थाओं का पोषण करके अपनी क्षमता तथा संसाधनों का लाभकारी रूप में उपयोग कर सकता है, जो स्वस्थतर उत्पाद देकर देश के शिक्षा-अधिकारियों के लिए एक नैतिक प्रेरणादान का कार्य कर सकता है और साथ ही अन्य सामाजिक-सेवा संगठनों के लिए नमूनों के रूप में उपयोगी हो सकता है । फिर ये संस्थाएँ कम-से-कम कुछ ऐसे लोगों को पैदा करेंगी, जो हाई स्कूलों में शिक्षण के अनाडम्बर कार्य या खेती अथवा गृह-उद्योग चलाने के लिए गाँवों में जाकर रहना बुरा नहीं मानेंगे । आम जनता में शिक्षा के प्रसार में ऐसे लोगों से परम सहायता की अपेक्षा की जा सकती है । स्थानीय बालक-बालिकाओं की सहायता से वे, उनके खाली समय में रात्रिकालीन विद्यालय, व्यायामशाला, पुस्तकालय, स्लाइड-शो के साथ व्याख्यान, संग्रहालय तथा नमूने के खेतों की स्थापना और प्रदर्शनियों तथा स्वस्थ स्पर्धाओं का आयोजन कर सकेंगे । एक भी ऐसा योग्य व्यक्ति अपने पड़ोस में स्थित अनेक प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों को मार्गदर्शन, नियंत्रण तथा प्रेरणा प्रदान कर

सकता है। जनशिक्षा के लिए उनकी गतिविधियाँ आसपास के गाँवों में अन्य लोगों के लिए भी उसी प्रकार के कार्य करने के लिए उदाहरण तथा प्रेरणा का कार्य कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि किसी राष्ट्रीय संगठन द्वारा यदि ठीक ढंग से ऐसे शैक्षणिक संस्थाएँ चलायी जायँ, तो वे तीन उपयोगी उद्देश्यों की पूर्ति करेंगी; प्रथमत:, वे वर्तमान रूढ़िबद्ध संस्थाओं के क्रियाकलापों पर नैतिक प्रभाव डालेंगी; द्वितीयत:, वे देश के अन्य सामाजिक सेवा संगठनों के लिए अनुकरण तथा सुधार करने योग्य मॉडल का कार्य करेंगी; और तृतीयत:, वे कम-से-कम कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करेंगी, जो आम जनता के लिए मॉडल के रूप में शैक्षणिक कार्य प्रारम्भ करके उन्हें जारी रखेंगे। इन सबके अतिरिक्त, सम्भव है कि ये संस्थाएँ कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करें, जो अपने जीवन को पूरी तौर से आम जनता की उन्नति के पुनीत कार्य में लगाने के आदर्शवाद से अनुप्राणित हो जायँ।

हमें प्रसन्नता है कि ईश्वर की अनुकम्पा से रामकृष्ण मिशन तथा देश के अन्य सामाजिक सेवा संगठनों के तत्त्वावधान में विभिन्न प्रकार की शैक्षणिक संस्थाओं का पहले से ही विकास होने लगा है। इस समय हमें प्रयास करना चाहिए कि इनमें से हर एक अपनी श्रेणी के लिए एक मॉडल के रूप में विकसित हो और उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो – यही हमारा स्पष्ट कर्तव्य है।

इनमें से प्रत्येक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रमोत्तर पूरक कोर्सों के द्वारा वर्तमान व्यवस्था की कमियों को पूरा करना ही अपना प्राथमिक लक्ष्य बना ले। किसी भी हालत में हमें घिसी-पिटी पद्धति पर चलनेवाली एक भी संस्था को जारी रखने में अपनी शक्ति को बरबाद नहीं करना चाहिए। यदि हम किसी संस्था पर अपनी शक्ति व्यय करें, तो हम इसे मूलत: मनुष्य-निर्माण करनेवाली बनाने में कुछ भी कसर न रखें।

१३. संस्थाओं के प्रकार

अवकाश के समय का प्रशिक्षण तथा छात्रावास

उच्चतर तथा मध्य वर्ग को बालकों तथा युवकों के लिए शिक्षा में सुधार हेतु मॉडल के रूप में विद्यालयों का निर्माण करते समय हमें याद रखना होगा कि काफी काल से जारी वर्तमान प्रणाली के स्पष्ट दोषों को पूरक उपायों के द्वारा इसमें सुधार लाना ही हमारा पहला कर्तव्य है। यह स्पष्ट है कि शारीरिक, व्यावहारिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक कि कुछ हद तक व्यावसायिक शिक्षा के लिए भी अलग अलग स्कूलों तथा कॉलेजों की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है। बालक या बालिकाओं के लिए हमारे अपने सांस्कृतिक पद्धति पर Y.M.C.A. (यंग मेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन) के ढंग के अवकाश के समय का प्रशिक्षण और इसके साथ ही छात्रावासों के माध्यम से एक प्रकार का घरेलू-प्रशिक्षण के द्वारा दी गयी पूरक शिक्षा इस लक्ष्य की प्राप्ति में काफी उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रकार – १

अवकाश के समय का प्रशिक्षण

इस श्रेणी के संस्था की एक विशेषता यह होगी कि इनमें न्यूनतम मात्रा में मनुष्य तथा धन की आवश्यकता होगी, तथापि वर्तमान प्रणाली की कमियों को दूर करने में काफी बड़ा योगदान कर सकती हैं। अपने ही घरों में रहकर स्थानीय स्कूलों तथा कॉलेजों में बौद्धिक

शिक्षा प्राप्त करनेवाले बालक तथा युवक अपने अवकाश के समय या छुट्टियों का समय बिताने अपने पड़ोस के एक स्थान, या हो सके तो एक आश्रम में जायँ, जहाँ शारीरिक तथा सांस्कृतिक प्रशिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था हो ।

ऐसे आश्रम को अपने छात्र-सदस्यों की शारीरिक कुशलता के विकास हेतु एक व्यायामशाला की स्थापना, बीच बीच में खेलकूद तथा व्यायाम की स्पर्धाओं का आयोजन और नियमित रूप से ड्रिल की व्यवस्था करने की आवश्यकता होगी । वहाँ एक पुस्तकालय भी हो, नियमित रूप से व्याख्यानों का आयोजन किया जाय और पिछले अध्याय में बताये अनुसार इच्छाशक्ति तथा भावनाओं को प्रशिक्षित करने के लिए यथासम्भव सब कुछ किया जाय । बालिकाओं के लिए भी, विशेषकर जिनकी आयु दस वर्ष से ऊपर है, निकट के किसी स्थान में एक महिला आश्रम के द्वारा ऐसी ही सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायँ ।

ऐसी संस्थाएँ बालक-स्काउट तथा बालिका-गाइड आन्दोलन की एक इकाई खोलकर उनके युवा सदस्यों की सहायता से उसके लाभों की भी उपलब्धि कर सकते हैं । बालकों तथा तरुणों में साथ मिलकर कार्य करने की भावना होती है और स्काउट प्रणाली के द्वारा इन्हें उपयोगी धाराओं में मोड़कर उनकी शारीरिक कुशलता तथा चरित्र के विकास में इस भावना का पूरा उपयोग किया जा सकता है । सदस्यों को समाज के सबल, सशक्त, उत्साही, उद्योगी, तत्पर, कुशल और भलीभाँति अनुशासित सेवक बनाने में यह प्रणाली निश्चित रूप से एक अद्भुत कारक सिद्ध होगा । यूनीफार्मों, बैजों, प्रतीक-चिह्नों, सीटियों, संकेतों, खेलों तथा भ्रमण के रूप में आकर्षक साधन इस प्रशिक्षण को अत्यन्त रोचक बना देंगे । इस पूरी व्यवस्था को एक अत्यन्त रोचक क्रीड़ा में परिवर्तित किया जा सकता है और इस प्रकार स्वैच्छिक क्रिया पर आधारित यह प्रशिक्षण निश्चित रूप से कुछ हद तक प्रभावी सिद्ध होगा । कुछ लोगों द्वारा स्काउटिंग प्रशिक्षण पर जो राष्ट्रविरोधी प्रभाव का आक्षेप लगाया जाता है; राष्ट्रीय खेलों की व्यवस्था, भारतीय संस्कृति पर व्याख्यान, सामाजिक सेवा में प्रशिक्षण की व्यवस्था और साथ-ही-साथ आश्रम में अपने उत्कृष्ट मार्गदर्शकों का सान्निध्य उसकी काफी कुछ भरपाई कर देगा । वस्तुत: 'सेवादल' या 'व्रतचारी' जैसी राष्ट्रीय पद्धति पर चलनेवाला एक अखिल भारतीय संगठन इसका एक बेहतर विकल्प सिद्ध हो सकता है ।

सभी राष्ट्रीय संगठनों द्वारा, विशेषकर नगरों, कस्बों तथा बड़े गाँवों के हाई स्कूलों में, जहाँ तक वे इस कार्य के लिए अपने आदमी तथा धन मुहैया कर सकें, इस प्रकार का शैक्षणिक कार्य हाथ में लिया जा सकता है । इसमें एक स्कूल चलाने से कम खर्च आयेगा और यह निश्चित रूप से एक साधारण स्कूल से कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक संस्था की क्षमता के अनुसार, अवकाश के समय के प्रशिक्षण का कार्यक्रम एक या दो विषयों तक ही सीमित रखा जाना चाहिए । यदि कोई केवल एक व्यायामशाला ही उपलब्ध कराकर शारीरिक विकास को प्रोत्साहित करता है, तो भी वह स्थानीय लोगों की कम सेवा नहीं करता । कोई दूसरा जो केवल शास्त्रों के अध्ययन के लिए ही सुविधाएँ उपलब्ध कराने या अवकाश के समय हस्तशिल्प का व्यावहारिक प्रशिक्षण देने पर ही ध्यान केन्द्रित करता है, तो वह निश्चित रूप से अपने सदस्यों को एक सांस्कृतिक या आर्थिक उत्थान में सहायक सिद्ध होगा और इस प्रकार यह कार्य एक उच्च कोटि का शैक्षणिक महत्व रखता है । वस्तुत:, इनमें से

प्रत्येक संस्था को बहुमुखी अवकाश-कालीन पूरक प्रशिक्षण के अधिकाधिक विषय उपलब्ध कराने का प्रयास करना चाहिए ।

जहाँ अवकाश-कालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए कोई स्थायी व्यवस्था सम्भव नहीं है, वहाँ एक संगठन आसपास के बालकों तथा युवकों के लिए मात्र कुछ स्पर्धाओं का आयोजन तथा पुरस्कार वितरण करके उनके शारीरिक, सांस्कृतिक और यहाँ तक कि आर्थिक प्रशिक्षण में केवल उत्साहित करके भी इस दिशा में कुछ प्रशंसनीय कार्य कर सकता है ।

एक संस्था को चलाने का खर्च जितना ही कम होगा, उतना ही अधिक उसके विभिन्न सामाजिक संगठनों के संरक्षण में पूरे देश में फैलने की सम्भावना होगी, और इस कारण उसमें वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर एक स्वस्थ तथा उन्नायक प्रभाव विस्तार करने की और भी व्यापक सम्भावना निहित होगी । इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय, तो इन आसानी से चलायी जा सकनेवाली अवकाश-कालीन संस्थाओं की काफी उपयोगिता है और इस पर जितना भी सम्भव हो सके, हमें ध्यान देना चाहिए ।

प्रकार – २ (क)

युवकों के लिए छात्रावास

कॉलेज के छात्र तथा छात्राओं के लिए अलग अलग चलाये जानेवाले एक अन्य प्रकार के छात्रावासों को चलाने के लिए पिछले प्रकार की अपेक्षा कहीं अधिक संसाधनों तथा शक्ति की आवश्यकता होगी, परन्तु यह और भी उत्कृष्ट ढंग का पूरक प्रशिक्षण प्रदान कर सकेगा । जहाँ तक सम्भव हो, साधुओं या साध्वियों की देखरेख तथा मार्गदर्शन में ब्रह्मचर्य आश्रम की पद्धति पर परिचालित इन (संस्थाओं) में स्वाभाविक परिवेश हो और यही निश्चित रूप से विद्यार्थियों के स्वस्थ विकास की पहली आवश्यकता है । बौद्धिक शिक्षण का कार्य वर्तमान कॉलेजों पर छोड़कर, इनमें सुसम्बद्ध गृह-प्रशिक्षण के द्वारा प्रचलित प्रणाली के सभी स्पष्ट दोषों की भरपाई करने की व्यवस्था की जाय ।

इस प्रकार की संस्था अपेक्षाकृत कम खर्चीली होगी और यदि ठीक से चलायी जाय, तो यह स्कूलों तथा कॉलेजों में प्राप्त होनेवाली शिक्षा के दोषों को दूर करने में काफी उपयोगी होगी और हमारे छात्र समुदाय के बीच से बेहतर नागरिक उत्पन्न करेगी । उच्च शिक्षा के लिए जानेवाले युवकों के शारीरिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक विकास और यहाँ तक कि कुछ हद तक उनकी आर्थिक कुशलता के हेतु उन्हें खेती, गृह-उद्योग, वाणिज्य तथा बैंकिंग और ऐसी ही अन्य कार्यों में प्रशिक्षित करके इस प्रकार की संस्थाओं के द्वारा उनके लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उन सबकी परिपूर्ति करने की आशा की जा सकती है ।

हमें देखना चाहिए कि 'यंग मेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन' तथा अन्य ईसाई मिशनरी संस्थाओं ने इस देश के युवावर्ग में अपनी संस्कृति के प्रसार हेतु इसे एक प्रभावी माध्यम माना है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि युवकगण अपने कॉलेज-जीवन में ही उन अधिकांश नैतिक विचारों तथा प्रभावों की उपलब्धि करते हैं, जो उनके भावी कैरियर को रूपायित करती हैं । जैसा कि हमने देखा कि उनके शरीर के विकास में, उनके हृदय के विस्तार में, उनकी इच्छाशक्ति के प्रशिक्षण में, जीवन के कठिन संघर्ष में उन्हें उचित ढंग से सुसज्जित करने में और अपने परिवेश को सुधारने में – उनकी शिक्षा उनकी कोई सहायता नहीं

करती। इसके अतिरिक्त, ठीक इसी अवधि में कॉलेजों तथा छात्रावासों का वातावरण और शहरी जीवन की अवस्थाएँ उन्हें स्वार्थ तथा विषय-भोगों पर आधारित आधुनिक भौतिक सभ्यता का परम घातक प्रभाव उन पर हावी हो जाता है। अपनी कॉलेज शिक्षा में बिताये गये आधे दर्जन वर्षों के दौरान यदि वे 'जीवनदायी तथा चरित्र-निर्माणकारी' प्रभाव में आये और तदनुसार अपना जीवन समायोजित कर लें, तो इस देश के पुनर्गठन की समस्या का समाधान निश्यित रूप से आसान हो जायगा। देश का पूरा भविष्य निश्चय ही युवकों पर निर्भर करता है, अतएव उन्हें अपनी मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्यों के ठीक ठीक पूरा करने के लिए सुसज्जित करना ही इस समय देश की सबसे बड़ी सेवा होगी। इसके लिए बड़ी सावधानी के साथ उनकी देखभाल करनी होगी; इस दौरान प्राप्त नकारात्मक शिक्षा के द्वारा जिस सांस्कृतिक विष का उन्हें सेवन करना पड़ेगा, उन्हें निश्चित रूप से एक स्वस्थ पारिवेशिक प्रभाव तथा एक सुसन्तुलित पूरक प्रशिक्षण के द्वारा उसका निराकरण करना होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विद्यार्थी-भवन जैसी संस्थाएँ एक उत्कृष्ट साधन हैं।

प्रकार – २ (ख)

कॉलेज के युवकों के लिए छात्रावास और उसके साथ बाहरी युवकों के अवकाशकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था

इस प्रकार के छात्रावास तथा बाहर के युवकों के लिए अवकाशकालीन प्रशिक्षण (प्रकार-१) का संयोग, विशेषकर जिले तथा उपनगरों में एक अत्यन्त उपयोगी शैक्षणिक माध्यम सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार की एक सर्वांगीण संस्था चलाने में एक कॉलेज या यहाँ तक कि एक स्कूल चलाने से भी कम आदमी, धन तथा शक्ति की आवश्यकता होगी और जहाँ कहीं कॉलेज जानेवाले युवकों की बहुतायत है, वहाँ इसकी सफलता तथा उन्नति की पूरी सम्भावना है। इस प्रकार वर्तमान प्रणाली पर एक उन्नयनकारी प्रभाव डालने का इस किस्म की संस्थाओं में असीम सम्भावना निहित है।

प्रकार – २ (ग)

स्कूली बालकों के लिए छात्रावास

केवल अवकाशकालीन प्रशिक्षण की तुलना में उपरोक्त पद्धति पर चलने वाले बालकों तथा बालिकाओं के लिए छात्रावास निःसन्देह अधिक प्रभावी होंगे। परन्तु ये युवकों के छात्रावास जितने उपयोगी तथा प्रभावी नहीं होंगे। बड़ों में छोटे बच्चों की अपेक्षा शारीरिक तथा साथ-ही-साथ मानसिक प्रतिरोध की क्षमता कहीं अधिक विकसित होती है। इसीलिए बाहरी कॉलेज के कृत्रिम परिवेशों में डालकर उन्हें संघर्ष करने की अनुमति दी जा सकती है। उन्हें बस प्रेरणा तथा उचित मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है, जो प्रकार-२(क) की पद्धति पर चलनेवाले छात्रावास से प्राप्त किया जा सकता है; जबकि बचपन तथा यहाँ तक कि कौमार्य को इससे काफी अधिक देखरेख की जरूरत है। मानो कोमल पौधों के समान उन्हें बाड़ लगाकर रखना पड़ता है और शारीरिक तथा मानसिक – दोनों ही प्रकार के अवांछित परिवेश से उनकी रक्षा करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त यही वह आयु है, जब शरीर का बड़ी तेजी से विकास होता है; उन्हें समुचित भोजन, शुद्ध वायु तथा शारीरिक व्यायाम के रूप में विशेष सुविधाओं की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए कलकत्ता के समान एक दूषित वायु, मिलावटी भोजन तथा आउटडोर व्यायाम के लिए बिना किसी

विस्तारवाला भीड़भरा शहर स्कूल जानेवाली विराट् जनसंख्या के विकास के लिए एक उपयुक्त स्थान नहीं है। यदि स्कूली बालकों या बालिकाओं के केवल शारीरिक विकास की दृष्टि से भी देखा जाय, तो उनके लिए यहाँ स्थित एक छात्रावास स्पष्टत: ज्यादा उपयोगी नहीं होगा। और ऊपर से भारी-भरकम पाठ्यक्रम, उनके मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं से असम्बद्ध पढ़ाने की अस्वाभाविक पद्धति, हमारे अधिकांश सामान्य स्कूल के छात्रों द्वारा झेला जानेवाला पीड़ादायी अनुशासन और इसके साथ ही उद्भ्रान्त बुरे सहपाठियों का संक्रामक प्रभाव – निश्चय ही ये केवल छात्रावासों के पूरक प्रशिक्षण के द्वारा बालकों के मन के द्वारा निष्प्रभावी नहीं किए जा सकते। वर्तमान स्कूली शिक्षा व्यवस्था का दबाव, उनके बौद्धिक तथा साथ ही नैतिक विकास को भी अवरुद्ध करता-सा प्रतीत होता है और यदि उन्हें छात्रावासों के द्वारा प्रेरणा तथा मार्गदर्शन दिया भी जाय, तो इन छोटे बच्चों में इसे झेलने की शक्ति नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त तरुणाई की अवस्था में बालक-बालिकाएँ ऐसे छात्रावासों से कुछ हद तक लाभ उठा सकती हैं, क्योंकि उनकी प्रतिरोध क्षमता छोटे बच्चों से कहीं अधिक विकसित है। अत: हम ग्यारह वर्ष से ऊपर के स्कूली बालक-बालिकाओं के लिए छात्रावास चलाकर, इन्हें केवल अवकाशकालीन प्रशिक्षण की तुलना में कहीं अधिक प्रभावी पायेंगे; परन्तु ऐसी संस्थाओं से हम बहुत अधिक की आशा नहीं कर सकते।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना होगा कि इस अध्याय में निरूपित विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोषों में आवश्यक सुधारों के रूप में ही महत्व रखती हैं। वे प्रमुखत: काफी कुछ मानसिक अस्पतालों के समान उपयोगी होंगी, जहाँ आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था के युवा शिकार अपने राष्ट्रीय पद्धति से सामान्य तथा स्वाभाविक विकास सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक मानसिक चिकित्सा तथा देखभाल प्राप्त कर सकेंगे। यही इन संस्थाओं का केन्द्रीय भाव है और यदि उचित व्यवस्था के साथ इन्हें क्रियान्वित किया जा सका, तो कम-से-कम जब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली जारी है, तब तक वे मनुष्य-निर्माण तथा राष्ट्रगठन में परम उपयोगी बनी रहेंगी।

निश्चित रूप से यह आशा की जा सकती है कि मनुष्यत्व के सामान्य तथा स्वाभाविक विकास के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उसे समुचित ढंग से नियोजित एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के अधीन स्कूल तथा कॉलेज वह सब प्रदान करेंगे और छात्रावासों व अवकाशकालीन प्रशिक्षण के द्वारा करने के अधिक कुछ नहीं रह जायगा। (परन्तु) जब तक यह रूपायित नहीं हो जाता, तब तक बालक तथा बालिकाओं के लिए अलग अलग संचालित इस अवकाशकालीन प्रशिक्षण तथा उपयुक्त छात्रावासों के द्वारा काफी परिमाण में स्वस्थ शैक्षणिक कार्य लाभकारी ढंग से चलाया जा सकता है। ☐ (क्रमश:) ☐
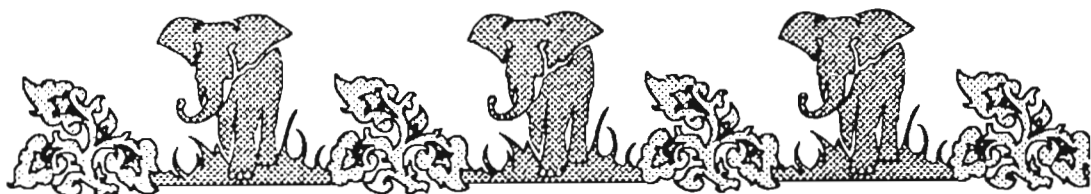
कालिदास और पर्यावरण

भैरवदत्त उपाध्याय

कुठारमालिकां दृष्ट्वा कम्पिताः सकलद्रुमाः – फरसों कीं कतार को देखकर वन के सम्पूर्ण वृक्ष काँप उठे हैं; पता नहीं; वे फिर बरसने लगें, किस को मूल से नष्ट कर दें, जड़ से काट डालें, हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर दें। बेचारी वनस्पतियाँ मूक हैं, वृक्ष मौन हैं, विनम्रता की प्रतीक लताएँ चुप हैं; उन पर मनुष्य के निर्मम कुठार का अनवरत प्रहार हो रहा है; बिना विश्रान्ति के वह काटता जा रहा है, काटता जा रहा है --। क्या कभी कुछ क्षण निकाल कर, वह सोचेगा कि इन्हीं वृक्षों ने, जब वह आदिम अवस्था में अबोध शिशु-सा असहाय एवं निरुपाय था, तब उसे अपनी शरण देकर मातृत्व और पितृत्व की भूमिका का निर्वहन करते हुए, ममत्वमय स्नेह का सम्बल दिया था। उस निर्वस्त्र बालक को अपनी त्वचा से आभूषित कर सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ना सिखाया था। अपनी शाखाओं का प्रश्रय देकर वन्य पशुओं से संरक्षण दिया था। भूख की धधकती ज्वाला को सुमधुर फलों से उपशान्त किया। मादक द्रवों के पान से कुण्ठा को तोड़ा था। रोगाक्रान्त होने पर संजीवनी शक्ति का चमत्कार दिखाया था। धूप और शीत से रक्षा की थी। स्वयं को तिल-तिल जलाकर (यूनानी देवता) प्रमथ्यु के द्वारा स्वर्ग से लाई गई अग्नि को शिशुमानव के हितार्थ प्रज्ज्वलित रखा था; संस्कारित किया था।

तब उसी शिशु-मानव ने अपनी श्रद्धा-सुमंन, उसके चरणों में अर्पित किये थे। हृदय से ऋचाओं का प्रस्फुटन हुआ था। देवों का अधिवास स्वीकार कर उसने भक्ति से मस्तक झुकाया था। बड़, पीपल, गूलर, आम, शमी, आँवला, साजा, सागौन और तुलसी आदि अनेकानेक पेड़-पौधों की आरती की थी। इस समूचे विश्व को – विराट पुरुष को ही ऊर्ध्वमूल और अधःशाख अश्वत्थ की उपमा दी थी, परमप्रभु से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर, उनके प्रति कृतज्ञता विज्ञापित की थी; उनमें मानवीय क्रियाओं और संस्कारों का आरोपण किया था। तुलसी के बिरवे और आम के बगीचे का विवाह, मांगलिक कार्यों में आम्रपल्लवों के वन्दनवार, आम्रपल्लवों से मंगलघट का आच्छादन, आम्रमण्डप, यज्ञ में विशिष्ट वृक्षों के काष्ठ का उपयोग, उपनयन संस्कार में पलासदण्ड का धारण आदि कृत्यों द्वारा संस्कृति को वानस्पतिक ऊर्जा से समन्वित किया था तथा रुदन और हास्य के भावों में सहभागी बनाया था। परन्तु आज का युग-कालिदास उसी शाखा को, उन्हीं वृक्षों को बड़े नृशंसभाव से निर्मूल कर रहा है, जिन्होंने उसे प्रश्रय दिया था एवं सभ्यता-संस्कृति से सम्पन्न किया था।

लोग कालिदास को मूर्ख और असंवेदनशील कहते हैं, पर भूल जाते हैं कि उनका कार्य भविष्य का, आज के युग का संकेत था। वे क्रान्तदर्शी थे। मनीषी और भविष्यद्रष्टा थे। भविष्य की एक एक बात उन्हें स्पष्ट दीखती थी। इसीलिए उसने प्रतीकात्मक अनुभूति का अभिनय किया था; रूपकों का प्रणेता जो था। रूपराज 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में उन्होंने प्रकृति के साथ मानव के रागात्मक सम्बन्धों के जो मर्मस्पर्शी चित्र उकेरे हैं, उनमें न केवल कला का उत्कर्ष है, अपितु सांस्कृतिक गौरव का तत्कालीन मानवीय व्यवहार का, मानवीय संवेदना का, यथार्थ रूपांकन है। महर्षि कण्व का आश्रम, जहाँ किशोरियाँ आश्रम के पौधों को सींच रही हैं, वहाँ

महर्षि की धर्मपुत्री शकुन्तला भी उसी कर्म में नियुक्त है। वह न केवल ऋषि के आदेश से रसावर्जन में लगी है, अपितु वृक्षों के प्रति उसका सगे भाई जैसा स्नेह है – "न केवलं तातस्य नियोगः ममाप्येतेषु सहोदरस्नेहः।" यह सहोदर स्नेह ही उसे सींचने और पालन-पोषण के लिए प्रेरित करता है। शकुन्तला प्रियमण्डना है, फूलों के गहनों से शरीर को सजाना उसे अच्छा लगता है। फिर भी बेचारी वनराजि को विपुष्पा नहीं करती। वनश्री के प्राकृतिक सौन्दर्य को आहत नहीं करती, सहोदर स्नेह ऐसा करने से उसे रोकता है। सौन्दर्य चेतना उसे बाधित करती है। स्वभाव से सुकोमल किशोरी का कठोर व्रत है कि आश्रम के वृक्षों को, जब तक वह नहीं सींच लेती, तब तक स्वयं जल की एक बूँद को भी ओठों से नहीं छूती, चाहे किसलय-सदृश कोमल रक्ताभ-ओष्ठ अभिसिंचन के श्रम से कितने ही सूख रहे हों और कण्ठ तृषा से व्याकुल हों। कितना अनुराग है, कितना त्याग है, इन मूक वृक्षों के प्रति, कैसी उपासना है; इस वनदेवी की? यही कारण है, विदाई के समय समस्त वनस्पतियाँ बहन शकुन्तला को उपहार लेकर खड़ी हो जाती हैं। उसके विरह में आँसुओं से रोने लगती हैं।

वनों के साथ हमारे सम्बन्धों का यह दृश्य आज कहाँ है? पत्ते-पत्ते को सराबोर करनेवाले स्नेह की धारा कहाँ है ? हमारे लिए उनमें अब चेतना का प्रवाह, ऊर्जा का निर्झर, देवत्व का प्रकाश और प्राणवत्ता की फूटती किरणें नहीं हैं। अब वन हमारे लिए मात्र उपयोगी बनकर रह गये हैं। हमने अब फरसा और कुल्हाड़ी की जगह निशाचरी दाँतोंवाली भीमकाय आरा मशीनों का निर्माण कर लिया है और वनों के व्यवसाय में महारत हासिल की है।

प्राचीन ऋषियों ने वनस्पतियों को काटने का निषेध किया था। सूर्यास्त के अनन्तर-काल में इसकी वर्जना की थी। पर अब कोई निषेध नहीं है, वर्जना नहीं है। हमारी आत्मा के दीपक का स्नेह चुक गया है। आस्था की वर्तिका जल गई है और ममता का प्रकाश स्वार्थ के तिमिर ने ग्रस लिया है। हम प्रतिदिन सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी को मारकर, एक साथ पूरा सोना पाना चाहते हैं। इसीलिए अहोरात्र हमारे फरसे बरस रहे हैं, कुल्हाड़ियाँ चल रही हैं और निर्मम मशीनें वृक्षों के कलेजे चीर रही हैं। समूचा वन काँप रहा है, रो रहा है, पर हमारे भीतर का दुष्यन्त हँस रहा है। शकुन्तला कहीं खो गई है। सहोदर-स्नेह की सरस्वती निर्ममता के मरु में समा गई है। वनों की चीख शोर में डूब गई है। वातावरण का दुर्वासा फुँफकार उठा है। अब उसने शकुन्तला को नहीं, दुष्यन्त को अभिशप्त किया है। जिसके फलस्वरूप मानव-दुष्यन्त तनाव में जी रहा है, पर्यावरण के प्रदूषण से घुट रहा है, भूस्खलन, अनावृष्टि, बढ़ते मरुस्थल, बाढ़, तापमान-वृद्धि और ऋतुचक्र में परिवर्तन आदि-आदि शापों को झेल रहा है और आगे भी झेलेगा; जब तक वह शकुन्तला को - वनों की आसक्ति, प्रेम स्नेह और वात्सल्य को - प्राप्त नहीं करता। दुष्यन्त को शकुन्तला वनांचल में ही मिलती है। वनश्रीविहीन इन्द्रप्रस्थ में तो वह खो जाती है। कण्व और कश्यप ऋषियों के आश्रमों की वनस्थलियों में उसकी प्राप्ति सम्भव है।

यदि आज का मानव अपने परिवेश को जीवन के अनुकूल बनाना चाहता है, तो उसे वनों के प्रति रागात्मकता स्थापित कर उनका संरक्षण और संवर्द्धन करना होगा। अन्यथा वह दिन दूर नहीं है, जब वह सांस्कृतिक प्रतिमानों को विस्मृत कर प्राकृतिक सुषमा को तरसेगा। सौन्दर्य-दृष्टि खोएगा और हृदय की कोमलता हारेगा। विश्वास है, वनों के सहोदर-स्नेह की शकुन्तला दुष्यन्त को मिलेगी और वनों का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहेगा।

ईशावास्योपनिषद् (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनानत वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमासा की गयी थी, इनमें उन्हीं का सकलन है। श्री शकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु उपनिषदों पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। हम उनमें से सबसे लघु तथा शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के रूप में प्राप्त ईश या ईशावास्य उपनिषद् पर लिखे शाकर-भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हमने सामान्य अध्येताओं के लिए भाष्य में आये अधिकांश कठिन सन्धियों को तोड़कर सरल रूप में देने का प्रयास किया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। — सं.)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६ ।।

जो समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखते हैं, वे इस (अनुभूति के) कारण किसी से घृणा नहीं करते ।

भाष्य - यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि अव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मनि एव अनुपश्यति आत्म-व्यतिरिक्तानि न पश्यति इति अर्थः, सर्वभूतेषु च तेषु एव च आत्मान तेषां अपि भूतानां स्वं आत्मानं आत्मत्वेन यथा अस्य देहस्य कार्य-करण-सङ्घातस्य आत्मा अहं सर्व-प्रत्यय-साक्षिभूतः चेतयिता केवलो निर्गुणः अनेन एव स्वरूपेण अव्यक्तादीनां स्थावरान्तानां अहं एव आत्मा इति सर्वभूतेषु च आत्मानं निर्विशेषं यस्तु अनुपश्यति सः ततः तस्मात् एव दर्शनात् न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति ।

जो मुमुक्षु संन्यासी अव्यक्त (प्रकृति) से लेकर तृण तक, समस्त प्राणियों को स्वयं में अर्थात् अपनी आत्मा में ही देखते हैं, उससे पृथक् नहीं देखते और सभी जीवों की आत्मा को अपनी आत्मा के रूप में देखता है। "जैसे मैं इस कार्यरूप (मन, इन्द्रिय आदि) करण के संघात रूप शरीर की आत्मा हूँ – सर्ववृत्तिज्ञान का साक्षिभूत हूँ, (मन-बुद्धि आदि का) प्रकाशक, एकाकी, गुणातीत हूँ; वैसे ही इस (साक्षी) स्वरूप से अव्यक्त (प्रकृति) से तृण पर्यन्त सबकी आत्मा मैं ही हूँ – इस प्रकार सभी प्राणियों में निर्गुण आत्मा को देखनेवाला, उस दर्शन के कारण (किसी से) घृणा नहीं करता ।

प्राप्तस्य एव अनुवादो अयम् । सर्वा हि घृणाऽऽत्मनः अन्यत् दुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानं एव अत्यन्त-विशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तं अर्थान्तरं अस्ति इति प्राप्तं एव । ततो न विजुगुप्सते इति ।।६।।

यहाँ सर्वविदित तथ्य का ही पुनर्कथन किया गया है – जो भी वस्तुएँ घृणास्पद लगती हैं, वे अपने से पृथक् कोई दूषित वस्तु देखनेवाले को ही होती हैं । (परन्तु) निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप को देखनेवाले के लिए घृणा की हेतुभूत दूसरी कोई वस्तु रहती ही नहीं – यह अनुभवसिद्ध है । इस कारण वह घृणा नहीं करता ।

इमं एव अर्थं अन्यो अपि मन्त्र आह -

अगला मंत्र भी यही अर्थ बताता है –

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

जिस अवस्था में सभी प्राणी अपनी आत्मा ही हो जाते हैं – ऐसे एकत्व का अनुभव करनेवाले ज्ञानी को भला कौन-सा मोह और कौन-सा शोक हो सकता है?

भाष्य - यस्मिन् काले यथोक्त-आत्मनि वा तानि एव भूतानि सर्वाणि परमार्थ-आत्म-दर्शनात् आत्मा-एव-अभूत् आत्मा-एव संवृत्तः परमार्थ-वस्तु विजानतः तत्र तस्मिन् काले तत्र आत्मनि वा को मोहः कः शोकः । शोकः च मोहः च कामकर्मबीजं अजानतो भवति । न तु आत्म-एकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः ।

जिस (ज्ञान) काल या यथोक्त आत्मा में, उन्हीं समस्त प्राणियों में परमार्थ आत्मदर्शन के फलस्वरूप परमार्थ वस्तु को जाननेवाले का आत्मा ही हो गया; उस काल या आत्मा में शोक क्या है और मोह क्या है? शोक-मोह के बीज हैं काम-कर्म और वे अज्ञानियों को ही होते हैं; न कि विशुद्ध आकाशवत् आत्मा की एकता का दर्शन करनेवाले को ।

को मोहः कः शोकः इति शोकमोहयोः अविद्याकार्ययोः आक्षेपेण असम्भव-प्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्य अत्यन्तं एव उच्छेदः प्रदर्शितो भवति ।।७।।

मोह क्या है और शोक क्या है? – इस प्रकार अविद्या के फलरूप शोक-मोह को आक्षेप (प्रश्न) के द्वारा असम्भव बताकर अज्ञानरूप कारणसहित संसार-प्रपंच का पूर्णरूपेण उच्छेदन दिखाया गया है ।

आत्मा के लक्षण

यो अयं अतीतैः मन्त्रैः उक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इति आह अयं मन्त्रः -

यह मंत्र बताता है कि पिछले मंत्रों में बतायी गयी आत्मा कौन-से लक्षणोंवाली है –

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।८।।

वह आत्मा सर्वव्यापी, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत (व्रणरहित), स्नायुरहित, पवित्र, निष्पाप, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सबके ऊपर और स्वयम्भू है । उसी (आत्मा) ने नित्य संवत्सर (वर्ष) नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य कर्तव्यों का विधान किया है ।

भाष्य - स यथोक्त आत्मा पर्यगात् परि समन्तात् अगात् गतवान् आकाशवत् व्यापी इति अर्थः । शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मत् दीप्तिमान् इति अर्थः । अकायं अशरीरो लिङ्ग-शरीर-वर्जित इति अर्थः । अव्रणं अक्षतम् । अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन् न विद्यन्ते इति अस्नाविरम् । अव्रणं अस्नाविरं इति आभ्यां स्थूल-शरीर-प्रतिषेधः । शुद्धं निर्मलं अविद्या-मल-रहितं इति कारण-शरीर-प्रतिषेधः । अपापविद्धं धर्म-अधर्मादि-पापवर्जितम् ।

पूर्वोक्त आत्मा सभी ओर से (सर्वत्र) गया हुआ है अर्थात् आकाश के समान सर्वव्यापी है; शुक्रम् अर्थात् शुद्ध, ज्योतिर्मय तथा दीप्तिमान है । अकायम् का अर्थ है अशरीरी अर्थात् वह सूक्ष्म शरीर से रहित है । अव्रणम् अर्थात् वह क्षतरहित है, अस्नाविरम् अर्थात् जिसमें शिरा या स्नायुएँ नहीं होतीं । अक्षत् तथा स्नायुरहित कहकर स्थूल शरीर का निषेध किया गया है । शुद्धम् का अर्थ है निर्मल अर्थात् अविद्या मल से रहित, जिसके द्वारा कारण शरीर का प्रतिषेध किया गया है । अपापविद्धम् अर्थात् यह (आत्मा) धर्म और अधर्म रूपी पापों से रहित है ।

शुक्रं इत्यादीनि वचांसि पुँल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि । स पर्यगात् इति उपक्रम्य कविः मनीषी इत्यादिना पुँल्लिङ्गत्वेन उपसंहारात् ।

चूँकि 'स पर्यगात्' से आरम्भ करके 'कविर्मनीषी' के रूप में पुल्लिङ्ग में ही उपसंहार किया गया है, अतः शुक्रम् आदि (नपुंसक) शब्दों को पुल्लिङ्ग में कर लेना होगा ।

कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् । "न अन्यो अतो अस्ति द्रष्टा" (बृ. उ. ३/८/११) इत्यादि श्रुतेः । मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इति अर्थः । परिभूः सर्वेषां परि-उपरि भवति इति परिभूः । स्वयम्भूः स्वयं एव भवति इति । येषां उपरि भवति यः च उपरि भवति स सर्वः स्वयं एव भवति इति स्वयम्भूः ।

कवि: का अर्थ है अतीतदर्शी (त्रिकालदर्शी) अर्थात् सबको देखनेवाला; वेद में भी कहा है, "इस आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं है ।" वह मन का शासक होने से मनीषी अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर है । सबके ऊपर होने के कारण वह परिभू: है । (बिना माता-पिता के) स्वयं ही होता है, अत: वह स्वयम्भू है । (अथवा) जिसके ऊपर हो और जो ऊपर हो – वह (आत्मा) स्वयं ही सब कुछ हो जाने से स्वयम्भू है ।

स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वात् यथातथा-भावो याथातथ्यं तस्मात् यथा-भूत-कर्मफल-साधनतो अर्थान् कर्त्तव्य-पदार्थान् व्यदधात् विहितवान् यथानुरूपं व्यभजत् इत्यर्थः, शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सर-आख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ।।८।।

उस नित्यमुक्त ईश्वर ने सर्वज्ञ होने के कारण यथार्थ स्वरूप से कर्मफल तथा साधन के अनुसार अर्थों अर्थात् कर्तव्यों का नित्य संवत्सर (वर्ष) नामक प्रजापतियों के लिए यथोचित विभाजन किया है ।

ज्ञान मार्ग तथा कर्म मार्ग

अत्र आद्येण मन्त्रेण सर्व-एषणा-परित्यागेन ज्ञाननिष्ठा उक्ता प्रथमो वेदार्थः "ईशा वास्यं इदं सर्वं ... मा गृधः कस्यस्विद् धनम्" इति अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठा-असम्भवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि ... जिजीविषेत्" इति कर्मनिष्ठा उक्ता द्वितीयो वेदार्थः ।

इस ग्रन्थ में 'सबको ईश्वर से आच्छादित कर लेना चाहिए' और 'किसी के भी धन का लोभ मत करो' – इस प्रकार पहले मंत्र में समस्त कामनाओं के परित्याग द्वारा ज्ञाननिष्ठा बतायी गयी, यही प्रथम वेदार्थ है । और जीने की इच्छा रखनेवाले अज्ञानियों के लिए ज्ञाननिष्ठा असम्भव है, अत: 'कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए' – के रूप में उनके लिए कर्मनिष्ठा कही गयी, यह द्वितीय वेदार्थ है ।

अनयोः च निष्ठयोः विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोः बृहदारण्यके अपि प्रदर्शितः "सो अकामयत जाया मे स्यात्" (बृ. उ. १/४/१७) इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणि इति । "मन एव अस्य आत्मा वाग्जाया" (बृ. उ. १/४/१७) इत्यादि वचनाद् अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितं अवगम्यते । तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गः तेषु आत्मभावेन आत्मस्वरूप-अवस्थानम् ।

उपरोक्त मंत्रों में बतायी गयी ये दोनों निष्ठाएँ बृहदारण्यक उपनिषद् में भी दिखायी गयी हैं – "उसने कामना की – मुझे पत्नी हो" – आदि के द्वारा सिद्ध होता है कि अज्ञानी तथा सकाम व्यक्ति के लिए ही कर्म का विधान है । 'मन ही उसकी आत्मा है और वाणी पत्नी' – आदि वचन होने से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि कर्मकाण्ड में निष्ठा रखनेवाले लोग अज्ञ तथा कामनायुक्त होते हैं । वैसे ही उस (कर्मनिष्ठा) के फल से मनुष्य को सप्तान्न सर्ग[१] की प्राप्ति होती है और वह (आत्म भाव से) उन्हीं में (अनात्म पदार्थों) में स्थित रहता है ।

जाया-आदि-एषणात्रय-संन्यासेन च आत्मविदां कर्मनिष्ठा-प्रातिकूल्येन-आत्मस्वरूप-निष्ठा एव दर्शिता "किं प्रजया करिष्यामो येषां नो अयमात्मा अयं लोकः" (बृ.उ. ४/४/२२) इत्यादिना । ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनः तेभ्यो 'असुर्या नाम ते' इत्यादिना अविद्वन्-निन्दा-द्वारेण आत्मनो याथात्म्यं 'स पर्यगात्' इति एतद्-अन्तैः मंत्रैः उपदिष्टम् । ते हि अत्र अधिकृता न कामिनः इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यक् ऋषिसङ्घजुष्टम्" (श्वे.उ. ६/२१) इत्यादि विभज्य उक्तम् ।

पत्नी आदि तीन प्रकार की कामनाओं के त्याग द्वारा आत्मज्ञानी को, कर्मनिष्ठा के विपरीत होने के कारण – "हमारी आत्मा ही हमारा लोक है, अत: हम सन्तान लेकर क्या करेंगे?" आदि के द्वारा आत्मस्वरूप-निष्ठा ही दिखायी गयी है, परन्तु जो ज्ञाननिष्ठ (संन्यासी) हैं, उनके लिए 'असुर्या नाम ते' आदि मंत्रों के द्वारा अज्ञानी की निन्दा के बाद 'स पर्यगात्' तक के मंत्रों द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का उपदेश दिया गया है । वे (ज्ञाननिष्ठ) ही इसके अधिकारी हैं, न कि कामना करनेवाले । वैसे ही श्वेताश्वतर मंत्रोपनिषद् में भी इस प्रकार विभाजित करके बताया गया है –"ऋषिसंघों द्वारा सेवित उस परम पवित्र तत्त्व को अत्याश्रमियों (संन्यासियों) के लिए भलीभाँति कहा गया ।"

१. सात प्रकार के अन्न – (१) मनुष्यों का सामान्य भोजन (२-३) देवताओं का भोजन हुत तथा प्रहुत या दर्श तथा पूर्णमास (४-६) आत्मा का भोजन –मन, वाणी तथा प्राण (७) पशुओं का भोजन – दूध ।(बृहदारण्यक उप. १.५.१-३)

□(क्रमशः)□

भगवान श्रीरामकृष्णदेव का स्मरण

प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद, राज्यपाल, त्रिपुरा

(रामकृष्ण मिशन, अगरतला द्वारा इस वर्ष श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव के अवसर पर आयोजित सभा में प्रदत्त भाषण का अनुलिखन)

भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस के स्मरण का अर्थ है भगवद्भाव में डूब जाना। महात्मा गाँधी ने कहा था कि उनका जीवन व्यावहारिक धर्म का लीलामृत था। उनके जीवन में हम ईश्वर को रूबरू देखते हैं। उनके स्पर्श ने नरेन्द्र जैसे तार्किक अज्ञेयवादी युवक का कायाकल्प कर दिया। नरेन्द्र ने अनेक ईश्वर-विश्वासी व्यक्तियों से पूछा था कि उन्होंने ईश्वर को देखा है क्या? उन्हें एकमात्र श्रीरामकृष्ण ही ऐसे मिले, जिन्होंने उनके प्रश्न का उत्तर न केवल स्पष्ट रूप से 'हाँ' में दिया, बल्कि उन्हें प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर से साक्षात्कार कराया और सारे संसार में उनका सन्देश फैलाने हेतु अपार शक्ति भी प्रदान की।

आज मेरे लिए भगवान श्रीरामकृष्णदेव के विशेष स्मरण तथा श्रद्धांजलि अर्पित करने का दिन है। आप सभी जानते हैं कि अभी कुछ दिन पूर्व ही भारत के राष्ट्रपति ने रामकृष्ण मिशन को 'गाँधी पुरस्कार' के रूप में राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार से सम्मानित किया, जिसे संस्था की ओर से इसके अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने ग्रहण किया। व्यक्ति के बदले किसी संस्था को पहली बार यह पुरस्कार मिला है। भारत में अनेक महापुरुष हुए, अनेक संस्थाएँ भी बनीं, परन्तु रामकृष्ण मिशन अंगुलियों पर गिनी जानेवाली उन विरल संस्थाओं में से एक है, जो अपने स्थापना-काल से ही आज तक निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती जा रही हैं। इसका कारण है – इसके पीछे श्रीरामकृष्ण का नाम, इसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द का विराट् व्यक्तित्व, मिशन की सेवा-भावना तथा सब प्रकार के भेद-भाव से ऊपर उठकर मानव-मात्र में अद्वैत-भाव के विकास के लिए सतत कार्यरत रहना।

राजा राममोहन राय एवं स्वामी दयानन्द जैसे विलक्षण प्रतिभाशाली व्यक्ति इस भारत में हुए। परन्तु वे इस युग की आन्तरिक पीड़ा के मर्म तक पहुँच नहीं पाये। संसार में एक ओर ज्ञान-विज्ञान का विकास हो रहा है, औद्योगिक क्रान्ति हो रही है और दूसरी ओर आपसी संघर्षों में भी उसी अनुपात में वृद्धि होती दिखाई दे रही है। परमहंस श्रीरामकृष्ण इस दृष्टि से एकमात्र ऐसे विलक्षण पुरुष हुए जिन्होंने आधुनिक समाज के रोग को ठीक-ठीक पहचाना। वैष्णव, शैव, शाक्त, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम आदि सभी पद्धतियों की साधना कर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की, ईश्वर के दर्शन किए और अपनी अनुभूति के आधार पर यह घोषणा की कि भेद ऊपरी साधना-पद्धतियों के हैं, अत: ये तात्त्विक नहीं हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महायोगी अरविन्द और महात्मा गाँधी ने इस तत्त्व को अंगीकार किया और स्वामी विवेकानन्द ने दरिद्रनारायण के सेवा-कार्य को जिस निष्ठा के साथ अपनाया था, वह अभिनव भारत के निर्माण की प्रेरणा के रूप में स्वीकृत हुआ।

श्रीरामकृष्ण उन संतों-महंतों की तरह नहीं थे, जो अपनी मुक्ति को ही सर्वस्व मानकर संसार के प्राणियों के दुख-दर्द की ओर से आँखें मूँद लेते हैं। एक बार उन्होंने तीर्थयात्रा के

लिए काशी-वृन्दावन जाने की इच्छा व्यक्त की। उनकी टोली में अन्य व्यक्तियों के अलावा रानी रासमणि के दामाद मथुर बाबू भी थे। जब ये लोग देवघर के निकट पहुँचे, तो श्रीरामकृष्ण ने वहाँ के स्थानीय निवासियों की गरीबी देखकर, उनके लिए भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था करने का आग्रह किया। जब तक कलकत्ते से सारी सामग्री मँगवाकर उन लोगों में वितरित नहीं कर दी गयी, तब तक वे आगे नहीं बढ़े। दरिद्रनारायण की सेवा की इस विरासत को स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव से जिस रूप में प्राप्त किया था, उसी भावना को साकार करने के लिए उनकी महासमाधि के पश्चात् उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' को स्थापित किया। श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के उपरान्त उनके शिष्यों और श्रद्धालुओं ने मठ बनाने के लिए जो धनराशि एकत्र की थी, स्वामी विवेकानन्द ने उसका उपयोग कलकत्ते के आसपास फैले प्लेगग्रस्त लोगों की सेवा में कर दिया। यदि यही भावना भारत के अन्य मठों और गद्दियों में भी होती, तो भारत का इतिहास कुछ और ही होता।

१८९३ ई. में शिकागो में आयोजित विश्व-धर्म-सम्मेलन का उद्देश्य यह था कि अन्य सभी धर्मों के ऊपर ईसाई धर्म की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित करके सारे संसार में उसके प्रचार तथा स्वीकृति के लिए मार्ग प्रशस्त किया जाय। उस धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त के आधार पर धर्म की जो मीमांसा प्रस्तुत की, उसने सारे संसार में भारत व हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में सारे दुष्प्रचारों के आधार को ही समाप्त कर दिया। अपने अपने धर्म की श्रेष्ठता का ढोल पीटनेवालों को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी ने कहा था कि हर मेढक अपने कुएँ के जल को ही अथाह समझता है, क्योंकि उसने अगाध समुद्र को देखा ही नहीं है।

वेदान्त की बुनियादी मान्यता क्या है? संसार में सब कुछ ईश्वर है और ईश्वर में सब कुछ है। वेदान्त के मूल प्रस्थान ईशावास्योनिषद् का प्रथम मंत्र यही है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

वेदान्त के इस मूल मंत्र में अद्वैत-भाव के साथ सर्वात्म-भाव भी समाहित है। अद्वैत-भाव सांख्ययोग है और सर्वात्म-भाव भक्तियोग। स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन का जो ढाँचा तैयार किया, जो कार्य-कलाप तथा मिशन सामने रखा, उसमें ज्ञान-भक्ति-कर्म-ध्यान के साथ साथ आधुनिक विज्ञान का अपूर्व समन्वय तथा सामंजस्य है। इसीलिए मिशन का कार्य नित्य-निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा है।

सृष्टि के कण-कण में ईश्वर व्याप्त हैं। जब हिरण्यकश्यप ने अपने पुत्र प्रह्लाद से पूछा कि क्या तुम्हारा ईश्वर इस खम्भे में भी है? तो बालक के 'हाँ' कंहने पर उस अभिमानी ने खम्भे पर गदा से प्रहार किया और ईश्वर तत्काल ही उसे फाड़कर नृसिंह रूप में प्रकट हो गये।

श्रीरामकृष्ण सदैव महाभाव की अवस्था में रहते थे। चलते-फिरते, खाते-पीते उन्हें समाधि लग जाती थी। परन्तु उनके उस महाभाव की विलक्षणता यह थी कि भेद मिटाकर अभेद-दर्शन में प्रेरित करने के लिए और मानव-मात्र की ईश्वर-भाव से सेवा करने के लिए उन्होंने मात्र चार-पाँच वर्षों में ही एक ऐसी शिष्य-मण्डली तैयार कर दी, जो आज भी अकुण्ठ भाव से उनका जीवन-सन्देश सारे संसार को देती आ रही है।

स्वामी विवेकानन्द बारम्बार वेदान्त तथा विज्ञान के समन्वय और सामंजस्य की बात इसलिए उठाते थे कि इस जीवन-दृष्टि को विकसित किये बिना आधुनिक मनुष्य की समस्याओं का समाधान असम्भव है। विज्ञान ने भौतिक दूरी तो समाप्त कर दी है, परन्तु मन की दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं में तो बड़ी भारी वृद्धि हुई है, परन्तु मानव-मन आज भी उतना ही बर्बर और हिंसक है। इसी शताब्दी में दो दो महायुद्ध हो गये, जिसमें लाखों लोग मारे गए। और जापान पर अणुबम का प्रयोग किसी जंगली जाति ने तो नहीं किया था? सारे संसार में दिन-पर-दिन हिंसा व तनाव में वृद्धि होती जा रही है, आतंकवाद पनपता जा रहा है और मानवीयता सिकुड़ती जा रही है।

इस पृष्ठभूमि में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रामकृष्ण मिशन का काम कितना सराहनीय रहा है। पिछली बार त्रिपुरा में जो जातीय उन्माद फैला था उसके कारण सैकड़ों लोगों की जानें चली गयीं। परन्तु उससे समस्या का समाधान मिला क्या? उन्माद के ऐसे वातावरण में रामकृष्ण मिशन ने यहाँ विद्यालय की स्थापना कर सबको मिल-जुलकर रहने का जो प्रेम-सन्देश दिया है, वह हर दृष्टि से प्रशंसनीय है। त्रिपुरा में ही नहीं, पूर्वोत्तर भारत के अन्य राज्यों में भी ऐसे और भी अनेक विद्यालयों की आवश्यकता है, जो उच्च स्तर की शिक्षा के साथ-ही-साथ उदार हृदय के नागरिकों के निर्माण में योग दे सकें। इस सम्बन्ध में मैंने भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ. मुरली मनोहर जोशी, रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द जी तथा भारतीय विद्याभवन के अध्यक्ष भारतरत्न श्री सी. सुब्रमण्यम तथा अन्य साथियों से चर्चा की है, जिससे इस कार्य को सुचारु रूप से आगे बढ़ाया जा सके।

बीसवीं सदी यूरोप-अमेरिका की थी, दो महायुद्धों की थी, अणु बम की थी; इक्कीसवीं सदी भारत की होगी, वेदान्त और विज्ञान के समन्वय तथा सामंजस्य की होगी, घृणा-भाव के बदले प्रेम-भाव की होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि अगली सदी और सहस्राब्दी में रामकृष्ण मिशन की भूमिका अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण होगी।

यह मिशन कैसे पूरा हो? पहले ही मैं अद्वैत और सर्वात्म-भाव का एक साथ उल्लेख कर चुका हूँ। श्रीरामकृष्ण के जीवन में इन दोनों को साकार रूप मिला था। स्वामी विवेकानन्द, उनके संगियों तथा अनुयायियों ने जो सैद्धान्तिक साहित्य रचा है, मिशन ने इन वर्षों में जो सेवा-कार्य किये हैं, उन सबके कारण मेरा यह विश्वास रोज दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है कि इन कार्यों के लिए इससे उपयुक्त अन्य कोई संस्था नहीं है। भारतीय विद्या भवन जैसी संस्थाओं से रामकृष्ण मिशन को सहज ही इन कार्यों में सहयोग प्राप्त हो सकता है।

शक्ति यदि पाण्डित्य में होती, तो श्रीरामकृष्ण का स्मरण क्यों किया जाता? शक्ति यदि राजसत्ता में होती, तो भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदामणि या स्वामी विवेकानन्द के सामने राजा-महाराजा भला क्यों नतमस्तक होते? शक्ति यदि केवल धन में होती, तो और अधिक धनाढ्य संस्थाएँ ज्यादा यशस्वी क्यों नहीं होतीं?

अन्ध-भौतिकतावाद का जो खतरा आज सारे संसार में बढ़ता नजर आ रहा है, उससे त्राण पाने के लिए क्यों हमारा ध्यान बरबस श्रीरामकृष्ण परमहंस की ओर ही जाता है?

अद्वैत ही क्यों प्रामाणिक तत्त्वदर्शन प्रतीत होता है? धर्म के सजीव मूर्ति के रूप में बारम्बार क्यों श्रीरामकृष्ण का ही स्मरण हो आता है? इसलिए कि आधुनिक मनुष्य को धर्म के जिस साक्षात् रूप की आवश्यकता है, उसी को उनसे प्राप्त कर हम लोग तृप्ति का अनुभव करते हैं, प्रेरणा ग्रहण करते हैं और अपनी तर्क-बुद्धि को भी सन्तुष्ट कर पाते हैं।

संसार में गुरु अनेक हुए, उनके शिष्य भी अनेक हुए, परन्तु श्रीरामकृष्ण को विवेकानन्द के रूप में जैसे शिष्य मिले, वैसे परमगुरु भगवान श्रीकृष्ण को केवल अर्जुन ही मिले थे। लोगों का ऐसा विश्वास है कि जिन नर-नारायण ने मानव-समाज के उद्धार हेतु कभी अर्जुन और कृष्ण के रूप में अवतार लिया था, वे ही इस युग में विवेकानन्द और रामकृष्ण के रूप में अवतरित हुए हैं।

ऐसा लगता है कि श्रीरामकृष्ण देव ईश्वर में असीम श्रद्धा लेकर अवतरित हुए थे। उनके चारों ओर के परिवेश में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं थी। शायद पूर्वजन्म का ही उनका वैसा संस्कार था, पूर्वजन्मों में ही वे अपनी तपस्या से वह सब अर्जित करके अवतरित हुए थे। आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहें तो उनके 'जीन' में ही असीम श्रद्धा के वे तत्त्व निहित थे, जिनके लिए गीता में 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (४/३९) कहा गया है। पाण्डित्य के अर्थ में वे ज्ञानी नहीं थे, शास्त्रों के अध्येता भी नहीं थे, परन्तु इन सबके मूल तक उनकी सहज ही पहुँच थी। इस युग में भारत में ऐसे दूसरे व्यक्ति हुए रमण महर्षि, परन्तु उन्हें विवेकानन्द जैसे शिष्यों की टोली कहाँ मिली?

भारतीय परम्परा में श्रद्धा के साथ-ही-साथ गुरु की भी बड़ी महिमा गायी गई है। परमहंसदेव की जितनी श्रद्धा माँ-काली (ईश्वर) में थी, स्वामी विवेकानन्द की उतनी ही श्रद्धा अपने गुरु श्रीरामकृष्णदेव में थी। असीम श्रद्धा की इस अद्भुत परम्परा का ऐसा विलक्षण उदाहरण अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आता। ऐसी श्रद्धा से ही नये धर्मों का जन्म होता है। तो क्या श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द से कोई नया धर्म आरम्भ हुआ? क्या यह संसार का अन्तिम अर्थात् नवीनतम धर्म है? यह तो भविष्य ही बताएगा। क्या विज्ञान से प्राप्त भौतिक साधनों के इस युग में समाज भगवान श्रीरामकृष्णदेव द्वारा निर्दिष्ट और स्वामी विवेकानन्द द्वारा व्याख्यात जीवन-मार्ग का अनुसरण करके ही सुख-शान्ति को पा सकेगा? आज इस पर गहराई से विचार करने का समयआ गया है। महाभारत में कहा है – **नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्**। क्या नरोत्तम नारायण-रूप भगवान श्रीरामकृष्णदेव और नररूप स्वामी विवेकानन्द, गुरु-शिष्य के रूप में, मानव-समाज को नया युगबोध, नयी जीवनदृष्टि, समाज की संरचना का नया दर्शन देने के लिए अवतरित नहीं हुए हैं?

बृहदारण्यक उपनिषद् में (५/६/१) कहा गया है – **मनोमयोऽयम् पुरुषो** और तैत्तरीय (३/४/१) में कहा गया है – **मनो ब्रह्मेति**। पूरी भारतीय संस्कृति एवं परम्परा मन के संस्कार की साधना-पद्धति पर अवस्थित है। वैदिक, सनातनी, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, अवधूत, सिक्ख आदि सभी इसे स्वीकार करते हैं। भारत में मन के विज्ञान पर जितनी गहराई से चिन्तन-मनन हुआ उसका शतांश भी अन्य किसी परम्परा में नहीं हुआ। मन की शक्ति के भारतीय मनोविज्ञान को श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्द ने

आधुनिक युगबोध के लिए ग्राह्य भाषा-शैली में प्रस्तुत कर मानव-समाज के उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया है। हमें सारे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इसे स्वीकार करना चाहिए। रामकृष्ण मिशन आधुनिक विश्वव्यापी विषाक्त वातावरण को शुद्ध करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान देता आ रहा है। अतः इसके कार्यक्षेत्र को आज और विस्तृत तथा सघन बनाने की विशेष आवश्यकता है। मैं स्वामी सुमेधानन्दजी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके कारण मुझे अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करने का अवसर प्राप्त हुआ। ☐

संवाद और सूचनाएँ

कारगिल में शहीद हुए सैनिकों के परिवारों को मिशन की सहायता

रामकृष्ण मिशन ने प्रधान मंत्री की राष्ट्रीय-सुरक्षा-निधि में कारगिल-युद्ध में शहीद हुए सैनिकों के परिवारों की सहायता के लिए १० लाख रुपयों का योगदान किया है। यह राशि १५ जुलाई १९९९ को मिशन की दिल्ली शाखा के सचिव स्वामी गोकुलानन्द द्वारा प्रधान मंत्री को सौंपी गयी।

उक्त अवसर पर रामकृष्ण मिशन द्वारा यह घोषणा भी की गयी कि शहीदों के पुत्रों को मिशन के विद्यालयों में प्राथमिकता के आधार पर प्रवेश एवं नि:शुल्क शिक्षा प्रदान की जायेगी। साथ ही अन्य शिक्षण-संस्थानों में पढ़ रहे शहीदों की सन्तानों को छात्रवृत्ति के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान की जायेगी। छात्रवृत्ति के लिए विद्यार्थियों को निम्न पते पर अपना आवेदन भेजना होगा -

मुख्य कार्यालय, रामकृष्ण मिशन
पो. बेलूड़ मठ, जिला - हावड़ा (प. बंगाल) ७११ २०२

इन्दौर में मिशन का नया केन्द्र

पिछले २७ तथा २८ जून को इन्दौर के किला मैदान में स्थित रामकृष्ण आश्रम में एक विराट् आमसभा का आयोजन करके इसके रामकृष्ण मिशन द्वारा अधिग्रहण का समारोह मनाया गया। रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज, मध्यप्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री भाई महावीर तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों ने इस कार्यक्रम में भाग लेकर सभाओं को सम्बोधित किया। यह घटना मध्यप्रदेश में रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-आन्दोलन के इतिहास में एक मील का पत्थर होगी।

आज भारत में रामकृष्ण मठ तथा मिशन की १०३ शाखाएँ मुख्यालय बेलूड़ मठ (कलकत्ता) के निर्देशानुसार मानव-सेवा में संलग्न हैं। आध्यात्मिक एवं भौतिक कल्याण इनकी सेवाओं का मुख्य लक्ष्य है। इसी तरह मिशन के ३५ केन्द्र विदेशों में भी चल रहे हैं। बांग्लादेश में १० केन्द्र, अमेरिका में १२ केन्द्र, फ्रांस, फिजी, मॉरीशस, अर्जेन्टीना,

श्रीलंका, सिंगापुर, स्विट्जरलैंड, ब्राजील, कनाडा, जापान, नीदरलैंड, रूस तथा इंग्लैंड में १-१ केन्द्र भारतीय आध्यात्मिक चेतना की पताका फहरा रहे हैं।

ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज के सत्प्रयासों से मध्यप्रदेश के छतीसगढ़ अंचल के रायपुर नगर में रामकृष्ण मिशन की एक शाखा आरम्भ की गयी थी, जो आज भी इस क्षेत्र की जनता को उच्चकोटि की मानवीय सेवाएँ प्रस्तुत कर रही है। इसके अतिरिक्त बस्तर जिले के अबूझमाड़ क्षेत्र में स्थित मिशन का नारायणपुर केन्द्र भी हजारों आदिवासी बालक-बालिकाओं का जीवन सँवार रहा है और इसकी उत्कृष्ट सेवाएँ देखकर लोग अभिभूत हो जाते हैं। मध्यप्रदेश में रामकृष्ण-विवेकानन्द आध्यात्मिक भावधारा के प्रवर्तन में मिशन से संबद्ध रायपुर तथा नारायणपुर केन्द्र के अतिरिक्त अब इन्दौर में भी रामकृष्ण मिशन का एक पंजीकृत केन्द्र हो गया है। इनके अलावा भोपाल, ग्वालियर, जबलपुर, रीवा, बिलासपुर, अमरकण्टक, मण्डला, रतलाम और झाबुआ में भी एक एक स्वाधीन केन्द्र चल रहे हैं। आत्म-प्रचार से परहेज रखते हुए ये सारे केन्द्र शिक्षा, चिकित्सा तथा आध्यात्मिक उत्थान के कार्य में लगे हुए हैं।

इन्दौर के जिस रामकृष्ण आश्रम का अब रामकृष्ण मिशन विधिवत अधिग्रहण किया है, उसका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है। एक स्वाधीन केन्द्र के रूप में इसकी स्थापना १ मई, १९५७ ई. को रामकृष्ण मठ तथा मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी श्रीमत् स्वामी सत्स्वरूपानन्द जी महाराज ने की थी। इसकी शुरुआत स्नेहलतागंज में स्थित श्री शुभकरण पोद्दार के मकान में हुई थी। कुछ महीनों बाद ही २७ नवम्बर, १९५७ ई. के दिन यह गाँधी पार्क (रेडियो कॉलोनी) में किराए के एक मकान में स्थानान्तरित हुआ। १९५८ ई. में सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट के अन्तर्गत रामकृष्ण आश्रम, इन्दौर का पंजीयन हुआ। बैरिस्टर श्री जी. एस. गंधे आश्रम के सचिव बने। जुलाई १९५८ से 'ऋतायन' नाम से एक छात्रावास आरम्भ किया गया। ८ जुलाई १९६० से मॉन्टेसरी सहित प्राथमिक शाला नयापुरा के एक मकान में प्रारम्भ की गई। १९६१ में स्वामी सत्स्वरूपानन्द जी महाराज इन्दौर से हैदराबाद चले गए। इन्दौर आश्रम बन्द हो जाने की स्थिति में था। परन्तु कुछ युवकों के द्वारा इसे पुनः स्नेहलतागंज में श्री पोद्दार के मकान में स्थानान्तरित करके जारी रखने का प्रयास किया गया।

सन् १९६१ में रायपुर आश्रम से स्वामी आत्मानन्दजी महाराज पहली बार इन्दौर पधारने पर रामकृष्ण आश्रम, इन्दौर से जुड़े ये युवक उनसे मिले। स्वामीजी आश्रम-स्थल पर आए और वहाँ उनका अत्यन्त प्रभावपूर्ण तथा मनमोहक व्याख्यान हुआ। उनकी प्रेरणा और सहयोग से इन्दौर आश्रम में नई जान आ गई। बाद में तो निरन्तर उनका आना-जाना होने लगा। वे आश्रम के संरक्षक हो गए। आश्रम में अनेकों बार उनके विद्वतापूर्ण प्रवचन हुए। इन्दौर में उनके भक्तों का एक विशिष्ट समूह बनता गया। उनके मार्गदर्शन में इन्दौर आश्रम निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता गया। १९६६ में मध्यप्रदेश शासन ने शहरी कोलाहल से दूर, किला मैदान क्षेत्र में ३ एकड़ का एक भूखण्ड उपलब्ध करवाया, जहाँ १९६७ ई. में रामनवमी के पावन अवसर पर श्रीरामकृष्ण सारदापीठ का शिलान्यास हुआ।

१९६८ में सारदापीठ का भवन बन गया और उसमें विद्यालय की भी शुरुआत हो गयी। उसी समय आश्रम भी अपने भवन में आ गया। तभी से आश्रम को न केवल स्थायित्व मिला, बल्कि इसने 'मिशन' के उद्देश्यों की पूर्ति में अपना विशिष्ट योगदान भी आरम्भ कर दिया।

इन्दौर आश्रम के ही अन्तर्गत ओंकारेश्वर तीर्थस्थल में रामकृष्ण मठ एवं मिशन से जुड़े संन्यासियों के लिए एक 'साधना-धाम' का निर्माण किया गया है। वहाँ आध्यात्मिक शिविर आयोजित किए जाते रहते हैं। इन्दौर आश्रम में भी नूतन पूजा-आराधना गृह एवं साधु निवास का निर्माण किया गया। आश्रम एक पारमार्थिक होम्योपैथिक एवं बायोकेमिक औषधालय १९६९ से चला रहा है। 'आश्रमवाणी' नामक एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी किया जा रहा है। सारदापीठ, उच्चतर माध्यमिक विद्यालय का विशाल आकार ले चुका है। आज वह इन्दौर का एक बहुत ही प्रतिष्ठित विद्यालय है, जिसमें प्रवेश लेने की होड़ लगी रहती है। सारदापीठ अब कंप्यूटर पर आधारित व्यावसायिक प्रशिक्षण भी देता है। आश्रम का समृद्ध ग्रंथालय, वाचनालय तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का विक्रय-केन्द्र भी है।

चार दशक की सफल यात्रा पूर्ण करने के बाद श्रीरामकृष्ण आश्रम इन्दौर को रामकृष्ण मठ एवं मिशन ने अधिग्रहीत कर अपना अभिन्न अंग बना लिया है। इससे यह आशा बलवती हो उठी है कि अब यह आश्रम रामकृष्ण-विवेकानन्द प्रवर्तित आध्यात्मिक भावधारा का एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल बनेगा।

किशनपुर में मन्दिर का वार्षिकोत्सव

देहरादून के पास स्थित किशनपुर के रामकृष्ण आश्रम में रामकृष्ण मन्दिर की प्रथम वर्षगाँठ मनाने के लिए ११ मई, १९९९ से एक भव्य उत्सव का आयोजन किया था।

११ मई को रामकृष्ण आश्रम, मैसूर (कर्नाटक) के अध्यक्ष स्वामी आत्मविदानन्द जी ने निबन्ध-लेखन, चित्रकला, तथा भाषण-प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले छात्रों के बीच पारितोषिक-वितरण किया। इन प्रतियोगिताओं में १७ विद्यालयों के २९४ छात्रों ने भाग लिया था।

पोरबन्दर (गुजरात) रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी ने छात्रों को सम्बोधित किया। इन दोनों संन्यासियों ने भक्तों के लिए लगातार चार दिनों तक निम्मलिखित विषयों पर व्याख्यान भी दिये –

१. स्वामी विवेकानन्द और भारत का पुनर्जागरण।
२. स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुदेव।
३. स्वामी विवेकानन्द और नारी-शक्ति
४. उपनिषदों का सन्देश

नारायण-सेवा के साथ समारोह का समापन हुआ। यह पता लगाने के लिए एक विशेष सर्वेक्षण भी किया गया था कि कौन-से लोग सहायता के सर्वाधिक योग्य हैं।

नारायण-सेवा के एक अंग के रूप में भिखारी कॉलोनी के ५० लोगों को भोजन तथा वस्त्र से सेवा की गयी।

इसके अतिरिक्त सात दिनों तक स्कूलों तथा आश्रम में व्यक्तित्व-विकास की कार्यशालाओं का भी आयोजन किया गया था।

रामकृष्ण मिशन, लिमड़ी (गुजरात) में
ग्रन्थालय, वाचनालय तथा क्रीड़ा-स्थल का उद्घाटन

गुजरात के माननीय मंत्री श्री किरीटसिंह जी राणा ने १० जुलाई १९९९ को रामकृष्ण मिशन, लिमड़ी द्वारा बच्चों के लिए निर्मित एक क्रीड़ा-मैदान का उद्घाटन किया। इस अवसर पर दिए गए अपने संक्षिप्त भाषण में मंत्री महोदय ने बच्चों के लिए उपयोगी इस प्रकार के क्रिया-कलाप प्रारम्भ करने के लिए मिशन को धन्यवाद दिया। इस खेल के मैदान में बच्चों के लिए सभी प्रकार के खेलों की उपयोगी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। अंचल के समीप तथा दूर-दराज के बच्चे प्रतिदिन इस मैदान में आते हैं और खेलकूद का आनन्द लेते हैं।

विवेकानन्द स्मृति मन्दिर, टॉवर बँगला, लिमड़ी में श्रीरामकृष्ण मिशन की ओर से बच्चों के लिए पुस्तकालय तथा वाचनालय प्रारम्भ किया है।

इसका उद्घाटन शुक्रवार, ९ जुलाई १९९९ ई. को किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता लिमड़ी के ठाकुर साहेब माननीय छत्रसालजी ने किया। समारोह के मुख्य-अतिथि गुजरात के माननीय मंत्री श्री किरीटसिंह जी तथा रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के अध्यक्ष पूजनीय स्वामी जितात्मानन्द जी थे। पुस्तकालय तथा वाचनालय के आरम्भ होने की घोषणा लिमड़ी के नामदार राजमाता साहेब द्वारा की गई। इस अवसर पर लिमड़ी के प्रतिष्ठित नागरिक विशाल संख्या में उपस्थित थे। नगरपालिका स्कूल के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों ने इस समारोह में भाग लिया।

वैदिक मंत्रों के पाठ तथा प्रार्थना से समारोह की शुरुआत हुई। रामकृष्ण मिशन, लिमड़ी की ओर से स्वागत भाषण दिया गया। छात्राओं ने पुष्पाहार से अतिथियों का स्वागत किया। शिक्षक तथा सामाजिक कार्यकर्ता श्री नवनीत भाई जानी ने इस तरह के पुस्तकालय तथा वाचनालयों के महत्त्व पर एक सुन्दर भाषण दिया।

मुख्य-अतिथि श्री किरीटसिंह जी ने अपने सम्बोधन में इस प्रकार के रचनात्मक कार्य प्रारम्भ करने के लिए रामकृष्ण मिशन, लिमड़ी को धन्यवाद दिया। स्वामी जितात्मानन्द जी ने अपने भाषण में विद्यार्थियों को महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश तथा आशीर्वाद प्रदान किए।

इस अवसर पर रामकृष्ण मिशन, लिमड़ी की ओर से नामदार राजमाता साहेब तथा स्वामी जितात्मानन्द जी के द्वारा २२५ गरीब विद्यार्थियों को 'शाला-गणवेश' तथा 'कॉपियाँ' वितरित की गयीं। मिशन के भक्त श्री घनश्याम भाई दवे ने कार्यक्रम का संचालन किया और स्वामी आदिभवानन्द जी ने आभार प्रदर्शन किया। प्रसाद-वितरण के साथ समारोह का समापन हुआ। □

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— ९४ —

तुम्हें वाराणसी में अच्छा नहीं लग रहा है और तुम अन्यत्र जाने की इच्छा कर रहे हो। परन्तु कहाँ जाओगे? मन का स्वभाव चंचल है, स्थान छोड़ने से ही क्या मन शान्त हो जाता है? उसे भीतर से स्थिर करना पड़ता है – परिस्थितियों के ऊपर उठना पड़ता है। परिस्थितियों के अधीन रहने पर जहाँ कहीं भी जाओ, वे पीछा नहीं छोड़ेंगी। परिस्थितियों को अपने अधीन कर पाने से ही वे फिर गड़बड़ नहीं कर पातीं।

— ९५ —

तुम बड़े मजे में हो और अपनी इच्छानुसार साधन-भजन कर रहे हो – यह जानकर आनन्दित हुआ। भगवान का स्मरण-मनन करने से मन अच्छा रहेगा – इसमें आश्चर्य ही क्या है? ''हमारी इच्छा भी तो ईश्वर की ही इच्छा है'' – अज्ञान की अवस्था में इसकी निश्चित रूप से धारणा नहीं होती। ईश्वर सत्यसंकल्प हैं, परन्तु मनुष्य का संकल्प कभी कभी मिथ्या भी होता है। इसीलिए मनुष्य की इच्छा और ईश्वर की इच्छा को एक नहीं कहा जा सकता। प्रभु की कृपा से बुद्धि शुद्ध हो जाने पर सभी विषयों की अपने-आप ठीक ठीक अनुभूति हो जाती है। मेरी शुभकामनाएँ तथा स्नेह स्वीकार करना।

— ९६ —

सार बात तो यह है – "करो उनका नामगान, रहे जब तक देह में प्राण।" ''हे प्राणसखा, तुम्हारा नाम लेकर प्राण को शीतल करूँगा'' – इससे बढ़कर और प्रार्थना नहीं है। 'प्रीतिः परमसाधनम् – प्रेम ही सबसे बड़ा साधन है'। और कौन-सी साधना चाहिए? प्रेम ही तो सब कुछ है। स्वामीजी कहते हैं कि यही एकमात्र नौका है, जो पार लगाती है। अपने जीवन में भी उन्होंने पूर्ण रूप से इसका पालन किया है। ''अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्, मूकास्वादनवत् – गूँगे के रसास्वादन के समान प्रेम का स्वरूप वाणी के अतीत है'' – कहकर नारदजी बतलाते हैं – ''प्रकाशते क्वापि पात्रे – वह किसी पात्र-विशेष में भी प्रकाशित होता है।'' फिर इस प्रेम की उपलब्धि का मार्ग बताते हैं – ''संकीर्त्यमानः शीघ्रमाविर्भवत्यनुभावयति भक्तान् – संकीर्तन करने पर वे शीघ्र प्रकाशित होते हैं और भक्तों को अनुभव कराते हैं।'' अतः उनके नाम का गान करने से श्रेष्ठतर दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिए कहा है –

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्यैव नास्त्यैव नास्त्यैव गतिरन्यथा॥

इसीलिए तो ठाकुर भी गाया करते थे – ''हे माँ काली, एकमात्र तेरे नाम का ही भरोसा है, मुझे पूजा के उपकरणों से क्या प्रयोजन? बाहर निकले हुए दाँतवाले व्यक्ति के दाँत निपोरने के समान ही मुझे लोकाचार की क्या आवश्यकता?'' हरेर्नामैव केवलम् - यही सार है। मेरी शुभकामनाएँ तथा स्नेह स्वीकार कीजिएगा।

— १७ —

पूरे मन को उनके चरण-कमलों में सौंपकर ही निश्चिन्त हुआ जा सकता है। सौंपना सम्भव नहीं है, पर प्रयास करते ही प्रभु स्वयं उसे खींच लेते हैं। ठाकुर कहा करते थे कि उनकी ओर एक पग बढ़ने पर वे एक सौ पग आगे बढ़ आते हैं। यदि ऐसा न हो, तो क्या कोई उन्हें पा सकता है? मनुष्य के प्रयास से क्या यह सम्भव है? स्वामीजी ने एक बार मुझसे कहा था, "हरि भाई, भगवान क्या शाक-भाजी है, जो इतना मूल्य देकर अर्थात् इतना जप, इतना तप करके उन्हें प्राप्त करोगे? उन्हें तो सिर्फ उन्हीं की कृपा से प्राप्त किया जाता है।" "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्** – आत्मा जिसका वरण करती है, उसी के द्वारा यह लभ्य है।" (कठ. १.२.२३) तो फिर क्या जप-तप नहीं करोगे? अवश्य करना – जहाँ तक सम्भव हो प्राणपण से करना होगा। परन्तु साथ-ही-साथ यह भी जान रखना होगा क़ि हमारे जप-तप के कारण भगवान दर्शन देंगे, ऐसी बात नहीं है। वे कृपामय हैं, कृपा के द्वारा ही मिलते हैं। मैं जप-तप किये बिना रह नहीं सकता, इसीलिए करता हूँ। यह जप-तप श्वास-प्रश्वास के समान स्वाभाविक हो जाना चाहिए। यह तो प्राण को शीतल करने का उपाय मात्र है। ईश्वरोपलब्धि मेरे जप-तप नहीं, अपितु उन्हीं की कृपा पर निर्भर है – यह विश्वास, यह धारणा हृदय में दृढ़ हो जानी चाहिए। साधन-भजन तो केवल (मस्तूल के पक्षी की) पंख-पीड़ा के लिए है। पंख-पीड़ा होने पर ही बैठने की इच्छा होती है। तब पक्षी विश्राम पाने का अन्य कोई स्थान न पाकर उसी मस्तूल का आश्रय लेता है। अनन्त आकाश में उड़ने के बाद विश्राम का अन्य कोई भी स्थान नहीं है, इस बात का दृढ़ निश्चय न होने तक अनन्य शरणागति असम्भव है। इसीलिए ध्यान-भजन आदि यथासाध्य करना चाहिए; परन्तु ऐसा करने के बाद यह विश्वास आना चाहिए कि साधन-भजन आदि काम नहीं आते। "मेरे जप की माला, थैली और कंथा जप के कमरे में ही टँगी रह गयी।" और इसके बाद साधक कहते हैं, "यदि अपने गुण से ही सम्भव हो तो (मुझ) कमलाकान्त की रक्षा करो, नहीं तो जप करके तुम्हें पाना तो भूत के विवाह जैसा है।" भूत का विवाह न तो कभी हुआ है, न होगा – साधन-भजन के द्वारा न तो किसी ने तुम्हें पाया है और न पा सकेगा। यदि अपने गुण से ही सम्भव हो, तो मुझ कमलाकान्त पर कृपा करो, तभी कुछ हो सकता है; नहीं तो फिर रामप्रसाद क्यों कहते – "क्यों व्यर्थ 'माँ माँ' कहकर पुकारते हो, तुम माँ का दर्शन नहीं पा सकते। माँ यदि होती, तब तो दर्शन देती, वह सर्वनाशी अब जीवित नहीं है।" यह निराशा का क्रन्दन नहीं है, क्योंकि यद्यपि वे जानते हैं कि यह "तैरकर समुद्र पार करने के समान है" तथापि वे कहते हैं, "मन समझ गया है, परन्तु प्राण नहीं समझता; वह बौना होकर भी चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है।" वे प्राण के भी प्राण हैं, आत्मा के भी आत्मा हैं, उन्हें पाये बिना रिहाई नहीं है, उन्हें पाना ही होगा। परन्तु "वे भाव के विषय हैं। इसके अभाव में क्या उन्हें पाया जा सकता है?" वे ही यह अवस्था ला देते हैं। मन-प्राण को एक कर उन्हें पुकारते पुकारते वे स्वयं ही हृदय में प्रकट होकर सब ठीक ठीक समझा देते हैं, तभी 'ब्रह्ममयी का मुख देखना' होता है। □